प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
एन-७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-११०००१

•

पहली बार : १९८५
मूल्य : बारह रुपये

•

मुद्रक
शुक्ला प्रिंटिंग सर्विस,
मोजपुर, दिल्ली-५३

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक के रचयिता श्री सत्यनारायण गोयन्का का जीवन जन-कल्याण के लिए अनेक वर्षों से समर्पित है। उनकी आन्तरिक इच्छा है कि विश्व के प्रत्येक प्राणी का जीवन शान्ति से परिपूर्ण और आनन्द से भरपूर हो। इस पावन ध्येय को सामने रखकर उन्होने स्वय जिस मार्ग का अनुसरण किया है और जिस पर अब देश-विदेश के असख्य भाई-बहनो को चलने के लिए प्रेरित कर रहे हैं, वह अद्वितीय है। उसका सबध न किसी जाति से है, न धर्म से; न किसी वर्ग से है, न किसी राष्ट्र से। वह सार्वजनीन, सार्वकालिक और सबके हित का मार्ग है। यह उस धर्म का मार्ग है, जिसका आधार प्रेम है और जिसकी धुरी मानवता है।

श्री सत्यनारायणजी ने धर्म के मर्म को समझा है और उसका जीवन मे समावेश करने के लिए उन्होने विपश्यना की साधना-पद्धति को अपनाया है। वह स्वय उससे लाभान्वित हुए हैं और दूसरो को उसका लाभ पहुचा रहे है।

प्रस्तुत पुस्तक चार खण्डो मे विभक्त है। पहले खड मे उन्होने बताया है कि वास्तविक धर्म क्या है। दूसरे खण्ड मे उन्होने विपश्यना के सम्बन्ध मे जानकारी दी है। तीसरा खण्ड इस पुस्तक की जान है। उसमे उनके वे प्रवचन दिये गए हैं, जो वह विपश्यना-शिविर के ग्यारह दिनो मे दिया करते हैं। अतिम प्रवचन दीक्षा-प्रवचन है। इन प्रवचनो से उन्होने न केवल विपश्यना के महत्त्व पर प्रकाश डाला है; अपितु शिविर के प्रत्येक दिन की साधना को बडे विस्तार से समझाया है। ये प्रवचन इतने सरल, इतने सुबोध हैं कि प्रत्येक साधक सहज ही उन्हे ग्रहण कर लेता है। अतिम खण्ड मे कुछ प्रेरक प्रसग सग्रहीत किये गए है।

यह पुस्तक एक बार नही, बार-बार पढ़ने के लिए है। कहावत है कि सागर मे जो जितनी गहरी डुबकी लगाता है, उतने ही मूल्यवान रत्न उसके हाथ पडते है। यही बात इस पुस्तक के साथ है। इसे पढकर एक ऐसी विधा हाथ लगती है, जिसे जीवन मे उतारकर व्यक्ति धन्य हो जाता है।

श्री सत्यनारायणजी विपश्यना के आचार्य है। यह पद उन्हे इस विद्या के महान उन्नायक ऊ बा खिन ने प्रदान किया था।

पाठको से हमारा अनुरोध है कि वे इस पुस्तक को मनोयोगपूर्वक पढ़ें, पर उतने से ही संतोष न मान लें। विपश्यना के शिविर मे सम्मिलित होकर स्वय अनुभव करें कि अमृत का स्वाद क्या होता है और वह जीवन को किस प्रकार अनत सुख और अनत शान्ति से भर देता है।

—मंत्री

दो शब्द

कल्याणमित्र श्री सत्यनारायणजी गोयन्का भारत तथा विदेशो मे अनेक वर्षों से विपश्यना-साधना का प्रशिक्षण दे रहे हैं। अबतक लगभग तीन सौ शिविरो के आयोजन हो चुके हैं। ये शिविर ग्यारह दिन के होते हैं और प्रतिदिन शाम को प्रवचन दिये जाते हैं, जिनमे साधको को मार्ग-दर्शन और विधि के बारे मे स्पष्टीकरण होता है। इन ग्यारह प्रवचनो का सग्रह इस पुस्तक मे है। श्री गोयन्काजी के इन प्रवचनो का सक्षिप्तीकरण श्री रामसिंहजी ने किया है। ये प्रवचन हिन्दी की मासिक पत्रिका 'विपश्यना' मे फरवरी १९८२ से नवम्बर १९८२ तक के अको मे क्रमशः प्रकाशित हुए हैं।

शिविर मे सम्मिलित होकर जिन-जिन साधको ने इन प्रवचनो को सुना है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि इन्हे सुनते समय कितनी तल्लीनता आती है। मैं इन प्रवचनो को तीन शिविरो मे तीन बार सुन चुका हू। उनकी गूज आज भी मेरे मन मे झकार पैदा करती है। अत्यंत सरल और अन्त.करण को छू लेनेवाले इन प्रवचनो मे साम्प्रदायिक भाव लेशमात्र भी नही है।

भगवान बुद्ध ने उन दिनो प्रचलित अनेक ध्यान-विधियो को अपना-कर देखा, पर सतोष नही हुआ। अन्ततः जिस विधि की स्वतः खोजकर अभ्यास करते हुए निर्वाण प्राप्त किया, वह 'विपश्यना' ध्यान-पद्धति है। इसकी विशेषता यह है कि यह उन सभी ध्यान-विधियो से सरलतम और वाछित फल देने वाली है। इसका बौद्ध सप्रदाय से कोई लेन-देन नही है, इसलिए यह सभी सप्रदायो के लोगो के अनुकूल पड़ती है।

इस विधि में कोई बाहरी आलवन नही लिया जाता; वल्कि ऐसे आलंबन के सहारे मन टिकाया जाता है, जो सवके लिए समान रूप से प्राप्य और सुलभ है। अपना खुद का श्वास, अपना शरीर और अपने शरीर पर होने वाली संवेदनाए सवके लिए समान रूप से सुलभ आलंबन हैं।

किसी भी नाम या मत्र का जाप नहीं, किसी भी शब्द या वस्तु का सहारा नही। इसका सवसे वडा लाभ यह होता है कि अपना मन किसी बाहरी आलंबन मे उलझे विना स्वय की सास, शरीर और शरीर की संवेदनाओं के आधार पर एकाग्र होता है, जिनका कि हमारे मन के विकारों के साथ गहरा सवध है। ऐसी एकाग्रता प्राप्त होने पर हम वर्तमान में जीना सीखते है और सवेदनाओ के प्रति राग-द्वेष न जगाकर मात्र द्रष्टाभाव से देखने का प्रयास करते है। सामान्य रूप से सवेदना होते ही हम अपने राग या द्वेष के सस्कारो को वढावा देते है, परन्तु इस विधि के अभ्यास द्वारा सजग, सचेत होकर जव उन्हे द्रष्टाभाव से देखते है तो राग या द्वेष नही वनते और तव पुराने सग्रहीत राग, द्वेष और मोह के संस्कार उभरकर आते है और नष्ट होते है। इस प्रकार निर्वाण प्राप्त करने की यह प्रक्रिया 'विपश्यना'-साधना से सहजभाव से सीखी जा सकती है, परन्तु इसे मात्र पढकर कोई व्यक्ति स्वय का शिक्षक नही वन सकता। इसके लिए एक वार किसी शिविर मे जाकर विधिवत् अभ्यास करना नितात आवश्यक है। इन प्रवचनो को छापने की स्वीकृति देकर श्री गोयन्काजी ने साधको को धन्य किया है।

शिविर मे शामिल होने के लिए 'विपश्यना' विश्व विद्यापीठ, धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२४०३, जिला नासिक (महाराष्ट्र), फोन-७६, से सपर्क करना चाहिए।

—दलसुख मालवणिया

ऊ बा खिन-परिचय

१९ जनवरी ऊ बा खिन का स्मृतिदिवस है। सन् १९७१ मे इसी दिन बर्मा के इस सत गृहस्थ ने ७२ वर्ष की अवस्था मे अपना शरीर छोड़ा। उनका जन्म रंगून मे सन् १८९९ मे हुआ था।

ऊ बा खिन की सबसे बडी विशेषता थी—कर्मठता। उनका ७२ वर्ष का लबा जीवन अथक कर्ममय ही बीता। उनका सारा जीवन कठिन श्रम और उस श्रम के मीठे फलो से ही भरा हुआ था। एक अत्यन्त अभाव-ग्रस्त गरीब मा-बाप के यहा जन्म लेकर भी उन्होने अपनी कर्म-निष्ठा के बल पर ही ऐसी स्थिति प्राप्त की, जिससे सारा जीवन सुख-सतोष से भरा रहा। विद्यार्थी-जीवन मे भी अत्यन्त कुशाग्र तथा परिश्रमी होने के कारण वे हर कक्षा मे प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे। मैट्रिक की परीक्षा बहुत ऊचे अको से पास की और सरकारी छात्रवृत्ति भी हासिल की, परतु घर की आर्थिक स्थिति इतनी गई-गुजरी थी कि चाहते हुए भी कालेज की शिक्षा नही प्राप्त कर सके। मजबूर होकर किसी सरकारी दफ्तर मे एक निम्न श्रेणी के क्लर्क की नौकरी से जीवन-चर्या आरम्भ की, परन्तु अपनी नेकनीयती, मेहनत और कर्तव्य-निष्ठा के बल पर स्वाधीन बर्मा के प्रथम एकाउटेट-जनरल बने।

सरकारी सेवा-काल मे कुछ वर्ष तो ऐसे बीते जबकि एक साथ चार-चार सरकारी विभागो के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे। साथ ही न जाने कितनी सलाहकार समितियो के सदस्य भी बने रहे। उन्होने इतने पदो के उत्तरदायित्व को बिना थके, मुस्कराते हुए निभाया। इन जिम्मेदारियो को उन्होने ऐसी सफलतापूर्वक निभाया कि उनके कार्यकाल मे प्रत्येक विभाग मे उपलब्धियो के बेजोड़ कीर्तिमान स्थापित हुए। यही

कारण था कि पचपन वर्ष की अवस्था मे सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त कर लेने के बाद भी सरकार ने उन्हे आगामी बारह वर्षों तक सेवा में लगाए ही रखा। सरसठ वर्ष की अवस्था मे जब सेवा-मुक्त हुए भी तो सरकारी अनिच्छा से ही। इतनी लंबी शासन-सेवा न केवल बर्मा के लिए, बल्कि संभवतः विश्व भर की सभी सरकारो के लिए अनूठी बात ही है। अपने दायित्व मे अनवरत लगे रहना और आलस्य को पास न फटकने देना, यह उनका सबसे बडा गुण था।

उनकी दूसरी बडी विशेषता थी—सत्य-निष्ठा। ईमानदारी उनके स्वभाव का अग बन गई थी। वह जिन सरकारी पदों पर थे, उन पर आसीन होकर कोई भी भ्रष्टाचार से मुक्त न रह सका। वे ऐसी काजल की कोठरिया थी, जिनमें रहकर ऊ बा खिन जैसा सत्यनिष्ठ व्यक्ति ही बेदाग रह सका। वह न केवल स्वय भ्रष्टाचार से मुक्त रहे; बल्कि अपने अन्य अनेक साथी, सहयोगी और सहकारियो को भी मुक्त रह सकने योग्य बना सके। सरकारी दायित्व निभाने मे वह जहा एक ओर धन-वैभव के अथवा पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभन से अछूते रहे, वहा दूसरी ओर राजनैतिक नेताओ और मत्रियो के भय और आतंक के दबाव मे आकर कोई भी गलत फैसला करने से भी बचते रहे। उनकी निर्भयता न केवल ऊ नू और ऊ बा स्वे की नागरी सरकार के समय, बल्कि जनरल ने विन की सैनिक सरकार के समय भी वैसी ही दृढ रही। निडर रहकर सदैव सत्य और न्याय का ही पक्ष लेते रहे। बडी-से-बडी कामना-सिद्धि के लिए भी झूठ का सहारा लेना उनके स्वभाव के विरुद्ध था।

सरकारी सेवा से निवृत्त होने के बाद उनकी यह बहुत बडी धर्म-कामना थी कि वे विदेशो मे जाकर इस मगलमय विपश्यना मार्ग का प्रचार-प्रसार करें, जिससे कि सतप्त मानवता सच्ची सुख-शाति प्राप्त कर सके। परन्तु सरकार उन्हे विदेश जाने के लिए पासपोर्ट नही दे सकती थी, क्योकि वह अपने नियमो से बधी थी।

१९४२ के फरवरी या मार्च महीने की बात है। जापानी सेना रगून और टौंगू को जीतकर उत्तर बर्मा की ओर बढ़ी चली आ रही थी। अंग्रेजी सरकार तेजी से बर्मा छोड़कर भारत की ओर पलायन कर

रही थी। ऊ बा खिन उन दिनो बर्मा रेलवे के अकाउंट अफसर थे और माडले मे ही थे। एक दिन जापानियो ने माडले पर ज़ोरदार बमबारी की, जिसमे स्टेशन सहित रेलवे का कार्यालय भी नष्ट हो गया। रेलवे के सभी बड़े विदेशी अधिकारी माडले छोड़कर मेमियो तथा लाश्यो की ओर भाग खड़े हुए। लाश्यो से हवाई जहाज द्वारा भारत की ओर निकल भागने की योजना थी। ऊ बा खिन माडले मे ही रहे, उन्हे तो भारत जाना नही था। बमबारी के बाद जब कुछ देर के लिए शाति हुई तो रेलवे के नष्ट-भ्रष्ट कार्यालय का निरीक्षण करने गए। देखा कि आग से जली सामग्रियो के बीच कार्यालय की तिजोरी सुरक्षित पडी है। चाबी उनके पास थी, कूड़े के ढेर को अलग कर किसी प्रकार तिजोरी खोली और उसमे से रेलवे के खजाने का रुपया निकाला, परन्तु यह सरकारी धरोहर थी। उसे भागती हुई सरकार को लौटाना आवश्यक था। ऊ बा खिन जानते थे कि उस प्रकार बदलते हुए राज्य की अस्त-व्यस्त स्थिति मे कौन पूछेगा कि कौन-सी रकम कहा गई और फिर भागा हुआ मालिक तो पूछने भी कहा आयगा ? तो भी ऊ बा खिन उसमे से एक पाई भी अपने पास रखने की कल्पना तक नही कर सकते थे। ऐसी थी उनकी सत्य-निष्ठा। घर पर उनकी छोटी बच्ची बीमार पडी थी। उसके लिए चिकित्सा की सख्त आवश्यकता थी। परतु ऊ बा खिन के अन्त.करण मे उनका कर्त्तव्य पुकार रहा था। उन्होने बिलखते हुए परिवार को छोड़कर तुरत जीप द्वारा मेमियो की ओर प्रस्थान किया और अपने से बड़े अधिकारी को सारा खजाना सौंपकर ही सतोष की सास लेते हुए परिवार की देखभाल के लिए माडले लौटे। इस प्रकार की घटनाओ से उनका सारा जीवन भरा पडा है।

करुणा और मैत्री के तो वे मानो साक्षात् अवतार ही थे। सरकारी ज़िम्मेदारियो मे इस प्रकार व्यस्त रहने के बावजूद उनके मन मे अधिक-से-अधिक लोगो की धर्म-सेवा करने का उत्साह देखते ही बनता था। इतने व्यस्त जीवन मे भी वे हर महीने साधना-शिविर लगाने के लिए आवश्यक समय निकाल लेते थे। कोई दुखी-सतप्त व्यक्ति उनके पास धर्म सीखने आए तो वे अपनी असुविधाओ की चिन्ता न करके उसे धर्म

अवश्य सिखाते थे। कभी-कभी तो केवल एक-दो साधको के लिए ही शिविर लगा लेते थे और उनके लिए भी उतना ही कडा श्रम करते थे। प्रत्येक साधक-साधिका के प्रति उनके मन मे असीम वात्सल्य उमड़ता रहता था। सभी उन्हे अपनी ओर से पुत्र-पुत्री जैसे लगते थे। मृत्यु के कुल तीन दिन पूर्व तक उन्होने एक शिविर-सचालन कार्य पूरा किया और मृत्यु के पहले दिन तक भी इक्के-दुक्के साधको को धर्म सिखाते रहे। प्रत्येक साधक के प्रति तो उनकी असीम करुणा-मैत्री उमडती ही रहती थी, समस्त प्राणियो के प्रति भी उनके मन मे उतना ही असीम प्यार भरा हुआ था। जो आश्रम मे रहे है वे जानते हैं कि उनकी असीम मैत्री-भावना के कारण वहा के साप, बिच्छुओ तक ने अपना हिंसाभाव त्याग दिया था। सभी प्राणी उनकी असीम मैत्री से प्रभावित थे। आश्रम का कण-कण उनके प्रेम-रस से सराबोर था। आश्रम के पेड-पौधो की भी कितने प्यार से सेवा करते थे। आश्रम के फूल-फूल मे, पत्ते-पत्ते मे, उनके अन्तर का प्यार छलकता रहता था। यह उनकी मैत्री-तरगो का ही प्रभाव था कि उस तपोभूमि के फलो का रस-मिठास भी अनूठा, फूलो का रग-रूप भी अनूठा और उनकी सुरभि-सुगन्ध भी अनूठी ही होती थी।

एक वर्ष अनहोनी बात हुई। बर्मा जैसे धान्य-बहुल देश मे अकाल की-सी स्थिति पैदा हो गयी। उपज कम हुई। सरकार को चावल की राशनिंग करनी पड़ी। जनता इस स्थिति से अत्यत व्याकुल हुई। उस समय अपने दुखी देश-वासियो के प्रति ऊ बा खिन की करुणा असीम हो उठी। न केवल होठो पर; बल्कि उनके रोम-रोम पर यही ध्वनि समाई रहती थी—"**फीतो भवतु लोको च राजा भवतु धम्मिको।**" इसके कुछ समय बाद ही भारत मे अकाल पड़ा, लगातार दो वर्ष तक यही स्थिति रही। उनकी करुणा फिर सजीव हो उठी। उन्होने आश्रम के एक छोर पर शुभ्र हिमालय के उत्तुग शिखरो की एक प्रतिकृति बनवा रखी थी। रोज उसके समीप खडे होकर ध्यान करते और समग्र भारत के प्रति अपनी मगल-कामना भेजते। कहते, "मैं न जाने कितनी बार भारत मे जन्मा हूं और इस पावन हिम प्रदेश मे ध्यान-भावना के लिए वर्षो रहा हू। आज उस देश के लोग सत्रस्त हैं, उन्हें सुख-शान्ति मिले।

सभी लोग धर्म-विहारी बनें।" कभी-कभी कहते, "मुझे भारत अवश्य ही जाना है। बर्मा पर भारत का आध्यात्मिक ऋण है, उसे भारत को लौटाना है। मुझे प्राप्त हुई यह अनमोल विपश्यना-पद्धति भारत की ही धरोहर है। मुझे उसे लौटाना है। अपनी यह खोई हुई निधि वापस पाकर भारत धन्य हो उठेगा। न जाने इस समय उस देश मे पुण्यपारमिता वाले कितने लोग पके-पकाए तैयार बैठे है। उन्हे सद्धर्म की थोडी-सी भी चेतावनी जाग्रत कर देगी और वे तुरन्त धर्म के मार्ग पर आरूढ होकर अपना कल्यण साध लेंगे।"

वे स्वय तो भारत नही आ सके, परन्तु उनके आदेशानुसार उनके धर्म-पुत्र (श्री सत्यनारायणजी) द्वारा जब यहा लोगो को विपश्यना दी जाने लगी, तो उनकी प्रसन्नता की कोई सीमा नही थी। उनके सदेशो मे अपरिमित मगल-मैत्री छलकी पडती थी।

इस महापुरुष के गुणो का स्मरण कर हम भी प्रेरणा पावें और अपने जीवन मे उनकी-सी कर्त्तव्य-निष्ठा, सत्य-निष्ठा, निष्काम सेवा-भावना, मैत्री और करुणा भरने का प्रयास करें। यही कल्याणकर है, यही मगलकर है, यही श्रेयस्कर है।

लेखक-परिचय

श्री सत्यनारायण गोयन्का का जन्म ब्रह्मदेश के माण्डले नामक नगर मे सन् १९२४ मे हुआ। अपने बुद्धि-कौशल तथा अध्यवसाय से उन्होने औद्योगिक क्षेत्र मे उत्तरोत्तर उन्नति की और वहा के विख्यात उद्योगपतियो मे उनकी गणना होने लगी।

श्री सत्यनारायणजी की रुचि बडी व्यापक थी। आरंभ से ही साहित्य, सस्कृति, अध्यात्म, कला और समाज-सेवा मे उनकी अभिरुचि थी। इन सभी क्षेत्रो मे उन्होने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

ब्रह्मदेश के महालेखापाल ऊ बा खिन द्वारा प्रचारित-प्रसारित विपश्यना-साधना की ओर १९५५ मे वह अपनी अस्वस्थता के कारण आकृष्ट हुए। उससे इन्हे विशेष लाभ हुआ। फिर तो उन्होने न केवल उस साधना के मूल्य को समझा; बल्कि उसकी गहराइयो मे डुबकी लगाई। इसका उनके जीवन पर आश्चर्यजनक प्रभाव पडा।

सन् १९६९ मे वह भारत आये। अपने शरीर-त्याग से पूर्व ऊ बा खिन ने उन्हे उस भागवती विद्या को जन-जन तक पहुचाने के लिए आह्वान किया और आचार्य का पद सौपा। व्यवसाय से पूर्णतया अवकाश ग्रहण कर सत्यनारायणजी ने अपने शेष जीवन को इसी लोकोपयोगी कार्य के लिए समर्पित कर दिया। तब से विपश्यना-शिविरो का क्रम लगातार चल रहा है। भारत तथा अन्य देशो मे कई स्थायी केन्द्र स्थापित किये गए हैं और किये जा रहे हैं। अनेक सहायक आचार्य इस कल्याणकारी प्रवृत्ति मे उनका हाथ बटा रहे हैं। लाखो साधको ने इस धर्म-धारा मे अवगाहन करके अपने जीवन मे धन्यता अनुभव की है, आज भी कर रहे हैं।

अधिकाश शिविर स्थायी केन्द्रो मे ही सचालित होते है। बिना किसी जात-पात, धर्म-सम्प्रदाय, विश्वास आदि के भेदभाव के कोई भी जिज्ञासु व्यक्ति उनमे सम्मिलित हो सकता है। वहा साधको के निवास और भोजनादि की समुचित व्यवस्था है।

साधकों से!

मन मदिर मे धर्म ज्योति जगाए रखें।
भीतर प्रज्ञा-प्रदीप प्रज्ज्वलित रखें।
भीतर का अधकार दुखदायी होता है,
वर्तमान के लिए भी, भविष्य के लिए भी।
भीतर का प्रकाश, मगलदायी होता है।
वर्तमान के लिए भी, भविष्य के लिए भी।

कभी-कभी बाह्य जीवन मे अधकार छा जाता है। सारी बातें अवाछित होने लगती हैं। कुछ भी मनवाछित नही होता। ऐसी अवस्था मे नासमझ आदमी भीतर का होश खो बैठता है। अन्तर की प्रज्ञा का प्रदीप बुझ जाता है। धर्म ज्योति विलुप्त हो जाती है। जैसे बाहर वैसे ही भीतर भी अंधकार-ही-अंधकार छा जाता है। अपने मन-मानस मे द्वेष-द्रोह, चिडचिड़ाहट, झुझलाहट, रुदन-विलाप पैदा करता है। चित्तधारा पर आकुलता-व्याकुलता के अकुशल सस्कार-बीज बोता है। अब भी दुखी होता है, भविष्य के लिए भी दुख ही निर्माण करता है। भीतर अधकार है, इसलिए भविष्य के लिए भी अधकार ही निर्माण करता है।

इसके विपरीत ऐसी ही प्रतिकूल परिस्थिति मे एक समझदार आदमी अपने मन का सतुलन नही खोता, समता नही खोता। किसी अन्य के प्रति अपना मन मैला नही करता। धीरज-धर्म बनाए रखता है। प्रज्ञापूर्वक समझता रहता है कि यह स्थिति नित्य, शाश्वत, ध्रुव नही है। अनतकाल तक रहने वाली नही है। देर-सवेर बदलेगी ही। जो भी लोग ऐसी विपरीत स्थिति पैदा करने के माध्यम बने हैं, उनके प्रति मगल-मैत्री ही सृजन करता है, द्वेष-द्रोह नही। चित्तधारा पर कुशल सस्कारो के बीज ही वपन करता है। फलत. इस समय भी शाति-सुख बनाए रखता है, भविष्य के लिए भी शाति-सुख ही तैयार करता है। भीतर धर्म-ज्योति जगमगाती है, तो अपने भविष्य को प्रकाश से भर लेता है।

एक अवस्था ऐसी भी आती है, जबकि बाह्य जीवन सुख-समृद्धि से

भरा होता है। धन-दौलत, सत्ता-प्रभुता, पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान सभी कुछ प्राप्त होता है। सारी बाते मनवाछित होती है। अवाछित कुछ भी नही होता।

ऐसी अनुकूल परिस्थिति मे भी नासमझ आदमी भीतर से होश खो बैठता है। भीतर का प्रज्ञा-प्रदीप बुझ जाता है। धर्म-ज्योति विलीन हो जाती है। अहकार के दर्प मे प्रमत्त हुआ ऐसा मूढ़ व्यक्ति औरों के साथ दुर्व्यवहार करता है। मानस की अकड़न-जकड़न वाणी पर उतारता है, शरीर पर उतारता है। सारे लोकीय सुख प्राप्त होते हुए भी उद्विग्न-उत्तेजित रहता है, तनाव-खिचाव से भरा रहता है। द्वेष-दौर्मनस्य से भरा रहता है। चित्तधारा पर अकुशल सस्कारो के ही बीज बोता है। भीतर अधकार है। अतः भविष्य के लिए भी अधकार ही पैदा करता है।

परन्तु ऐसी ही मनोनुकूल अवस्था मे एक समझदार व्यक्ति अपने मन का सतुलन नही खोता, समता नही खोता। गर्व-घमड को पास नही फटकने देता। तनाव-खिचाव को नजदीक नही आने देता। भली-भाति समझता है कि यह मनोनुकूल स्थिति भी नित्य, शाश्वत, ध्रुव नही है। अनतकाल तक बनी रहने वाली नही है। देर-सवेर बदलेगी। जबतक कायम है, कैसे इसका सदुपयोग कर लू ! अपने भले के लिए भी, औरो के भले के लिए भी। यो मन मे प्रज्ञा-प्रदीप जलाए रखता है तो चित्तधारा पर मैत्री और करुणा के, सस्कारो के कर्म-बीज ही बोता है। वर्तमान भी प्रकाशमान, भविष्य भी प्रकाशमान। अब भी सुखी, भविष्य मे भी सुखी।

साधको ! जीवन मे उतार-चढाव तो आते ही रहते हैं। ज्वार-भाटा, वसत-पतझड का सामना करते ही रहना पड़ता है। पर सभी अवस्थाओ मे हम अपना मानसिक सतुलन बनाए रखें, समता बनाये रखें। और यह तभी होगा जबकि अन्तर का प्रज्ञा-प्रदीप जलाए रखें, धर्म-ज्योति जगमगाए रखें।

यही मगल-मूल है।

—स० ना० गो०

अनुक्रम

□

□□

आत्म-दर्शन

•

१. धर्म का मर्म

१/धर्म क्या है ?

धर्म जीवन जीने की कला है—स्वय सुख से जीने की तथा औरो को सुख से जीने देने की। सभी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं, दुखो से मुक्त रहना चाहते हैं, परन्तु जब हम यह नही जानते कि वास्तविक सुख क्या है और यह भी नही जानते कि उसे कैसे प्राप्त किया जाय, तो झूठे सुख के पीछे बावले होकर दौड़ लगाते हैं। वास्तविक सुख से दूर रहकर अधिकाधिक दुखी होते हैं। स्वय को ही नही, औरो को भी दुखी बनाते हैं।

वास्तविक सुख आन्तरिक शाति मे है और आन्तरिक शाति चित्त की विकार-विहीनता मे है, चित्त की निर्मलता मे है। चित्त की विकार-विहीन अवस्था ही वास्तविक सुख-शांति की अवस्था है।

अतः सच्ची शाति और सच्चा सुख वही भोगता है, जो निर्मल चित्त का जीवन जीता है। जो जितना विकारमुक्त रहता है, उतना ही दुख-मुक्त रहता है, उतना ही जीवन जीने की सही कला जानता है, उतना ही सही माने मे धार्मिक होता है। निर्मल चित्त का आचरण ही धर्म है। यही जीने की कला है। इसमे जो जितना निपुण है, वह उतना ही अधिक धार्मिक है। धार्मिक की यही सही परिभाषा है।

प्रकृति का एक अटूट नियम है, जिसे कोई 'ऋत' कह ले अथवा 'धर्म-नियामता' कह ले, नाम के भेद से कोई अन्तर नही पड़ता। नियम यह है कि ऐसा किया जायगा तो उसका ऐसा परिणाम आयेगा ही। वैसा

नही किया जायगा तो वैसा परिणाम नही आ सकता। कारणो के परिणामस्वरूप जो कार्य सम्पन्न होता है, उन कारणो के न रहने से वह कार्य नही हो सकता। इस नियम के अनुसार जब-जब हमारा मन द्वेष, दौर्मनस्य, क्रोध, ईर्ष्या, भय आदि से आक्रात हो उठता है, तब-तब हम व्याकुल हो जाते हैं। दुख-सतापित होकर सुख से वचित हो जाते हैं। जब-जब हमारा मन ऐसे विकारो से विकृत नही रहता, तब-तब हम व्याकुलता से मुक्त रहते है। दुख-सतापित होने से बचे रहते हैं। अपनी आन्तरिक सुख-शाति के मालिक बने रहते हैं।

जो विकारो से मुक्त रहना सिखाती है, वही जीवन जीने की सही कला है। वही शुद्ध धर्म है। शुद्ध धर्म का स्वरूप बडा ही मगलमय और कल्याण-प्रद है। हम जब-जब विकार-विमुक्त होकर निर्मल चित्त से आचरण करते हैं, तब-तब स्वय तो वास्तविक सुख-शाति भोगते ही हैं, औरो की सुख-शाति का भी कारण बनते हैं। इसी प्रकार जब-जब विकारग्रस्त होकर मलिन चित्तजन्य आचरण करते है, तब-तब स्वय तो सतापित होते ही हैं, औरो के संताप का भी कारण बनते हैं। समाज की शाति भग करते है।

क्रोध, लोभ, वासना, भय, मात्सर्य, ईर्ष्या, अहकार आदि मनो-विकारो के शिकार बनकर हम हत्या, चोरी, व्यभिचार, झूठ, छल-कपट, चुगली, परनिन्दा, निरर्थक बकवास करते हैं, कडुवा-कठोर बोलते हैं; और जब-जब ऐसा करते हैं तब-तब आत्म तथा पर-सताप का कारण बनते हैं। मनोविकारो के बिना कोई भी शारीरिक या वाचिक दुष्कर्म सम्पन्न हो नही सकता, परन्तु यह अनिवार्य नही है कि मनोविकारो के उत्पन्न होने पर हम कायिक और वाचिक दुष्कर्म करें ही। बहुधा प्रबल मनोविकारो के उत्पन्न होने के बावजूद आत्म-दमन द्वारा हम ऐसे कायिक, वाचिक दुष्कर्मों से बच जाते है। इससे प्रत्यक्षत' औरो की हानि नही कर पाते, परन्तु फिर भी दूषित मनोविकारो से आक्रात होकर यदि मन-ही-मन व्याकुल रहते हैं तो मानसिक दुष्कर्म तो करते ही हैं। इससे अपनी शाति खोते है, परोक्षत औरो की शाति भी भग करते है। हमारे मन की दूषित तरगें आस-पास के वातावरण को प्रभावित और दूषित किए बिना नही रह सकती।

जब-जब हमारा मन विकार-विमुक्त और निर्मल होता है, तब-तब स्वाभाविक ही वह स्नेह और सद्भाव से, मैत्री और करुणा से भर उठता है। उस समय हम स्वय तो सुख-शान्ति का अनुभव करते ही हैं, परोक्षत: औरो की भी सुख-शान्ति का कारण बनते हैं। हमारे निर्मल चित्त की तरगें आस-पास के वातावरण को प्रभावित कर उसे यथाशक्ति निर्मल बनाती है।

अत: आत्म-दमन ही धर्म की सर्वांग सम्पूर्णता नही है, लेकिन धर्म धारण करने का पहला कदम यही से आरम्भ होता है। पहले तो सयम-सवर द्वारा ही हम कायिक और वाचिक दुष्कर्मों से विरत हो और फिर सतत् अभ्यास द्वारा मानसिक दुष्कर्म से भी छुट्टी पा लें। मानसिक दुष्कर्मो से छुट्टी पाने का अर्थ है मानसिक विकारो से मुक्त हो जाना। विकार-विहीन निर्मल चित्त अपने सहज स्वभाव से ही कोई मानसिक, वाचिक या शारीरिक दुष्कर्म नही कर सकेगा। अत: मुख्य बात है अपने चित्त को विकारो से विमुक्त रखना।

हम अपने प्रत्येक कर्म के प्रति जागरूक रहकर ही उसे दोषमुक्त रख सकते है। अपने चित्त और चित्त के विकारो के प्रति जागरूक रहकर ही उसे विकारमुक्त रख सकते है। उसके प्रति अनजान और मूर्च्छित रहते हुए हम उसे कदापि स्वच्छ नही कर सकते, उसकी स्वच्छता को कायम नही रख सकते। अत अपने शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का, अपने चित्त और चित्तवृत्तियो का सतत् निरीक्षण करते रहने का अभ्यास ही धर्म धारण करने का सही अभ्यास है। किसी भी कर्म के करने से पूर्व और करते समय हम यह जाच करें कि इस कर्म मे हमारा तथा अन्यो का मगल समाया हुआ है अथवा अमगल। यदि मगल है तो वह काम करें और यदि अमगल हो तो न करें। इस प्रकार भलीभाति विवेकपूर्वक जाच कर किया गया कर्म सर्व मगलमय ही होगा, अत: धर्ममय ही होगा। यदि कभी अनवधानतावश बिना जाच किए कोई कायिक या वाचिक दुष्कर्म हो गया, जो कि अपने तथा अन्यो के लिए अहितकर हुआ तो उसे लेकर प्रायश्चित्त करते हुए, रो-रोकर, किसी अपराध-ग्रथि से ग्रस्त न हो जाय, बल्कि शीघ्र-से-शीघ्र अपने किसी साथी,

साधक अथवा गुरुजन से मिलकर, उनके सम्मुख अपनी भूल प्रकट कर, उसे स्वीकार कर लें और उस भार से मुक्ति पा लें तथा भविष्य मे और अधिक सावधान रहने के लिए कृत-सकल्प बनें। चित्त के प्रति भी इसी प्रकार जागरूकता का अभ्यास बढाए। जब-जब चित्त पर कोई विकार जागे, तत्क्षण उसका निरीक्षण करें। साक्षी की तरह निरीक्षण करने मात्र से वह दुर्बल होते-होते विनष्ट हो जायगा। कभी अनवधानतावश उसका निरीक्षण न कर पावें और परिणामतः वह हम पर हावी हो जाय, तो उसे भी याद कर करके रोवें नही, बल्कि और अधिक सावधान रहने के लिए कृतसकल्प हो और जागरूकता का अभ्यास बढावे। शुद्ध धर्म मे प्रतिष्ठापित होने का यही वैज्ञानिक तरीका है।

जिस अभ्यास से अपने कर्मों के प्रति जागरूकता और सावधानी बढती हो, वही शुद्ध धर्म का अभ्याम है। जिस विधि से अपने कर्मों को सुधारने वाली चित्त-निर्मलता प्राप्त होती हो, वही धर्मविधि है।

जब हम आत्म-निरीक्षण कर अनुभूतियो के बल पर देखते हैं तो पाते हैं कि प्रत्येक दुष्कर्म का कारण अपने चित्त की मलीनता है। कोई-न-कोई मनोविकार है। हम यह भी देखते है कि प्रत्येक विकार का कारण अपने ही अहम् के प्रति उत्पन्न हुई गहन आसक्ति है। जब-जब आसक्ति के अधेपन मे इस 'मैं' को अत्यधिक महत्व देकर इससे चिपक जाते हैं, तब-तब सकुचित दायरे मे आबद्ध होकर मन मलीन कर कोई-न-कोई ऐसा कर्म कर लेते है, जो कि परिणामतः अकुशल होता है।

आत्मनिरीक्षण के अभ्यास द्वारा स्वानुभूतियो के बल पर ही यह स्पष्ट होता है कि जब-जब स्वार्थान्ध होकर हम विकारग्रस्त होते है, तब-तब औरो का अहित तो करते ही हैं, अपना सच्चा स्वार्थ भी नही साध पाते, और जब-जब इस अधेपन से मुक्त रहते हैं, तब-तब आत्महित और परहित दोनो साधते हैं। आत्महित और परहित साधने का कर्म ही धर्म है। जहा आत्म-लाभ के साथ-साथ पर-लाभ भी सधता हो, वही धर्म है। जहा किसी का भी अनहित होता हो, वहा अधर्म-ही-अधर्म है।

आत्मोदय और सर्वोदय का सामजस्यपूर्ण स्वस्थ जीवन ही धर्म है। आत्मोदय और सर्वोदय अन्योन्याश्रित हैं।

हमारे सत्कर्म और दुष्कर्म केवल हमे ही सुखी-दुखी नही बनाते, बल्कि हमारे अन्य सगी-साथियो को भी प्रभावित करते हैं। मनुष्य समाज के अन्य सदस्यो के साथ रहता है। वह समाज का अविभाज्य अग है। समाज द्वारा स्वय प्रभावित होता है और समाज को भी थोड़ा-बहुत प्रभावित करता रहता है। इसलिए धर्म-साधन द्वारा जब हम नैतिक जीवन जीते हैं, दुष्कर्मों से बचकर सत्कर्मों मे लगते है, तो केवल अपना ही भला नही करते, बल्कि औरो का भी भला साधते हैं।

जीवन-मूल्यो के लिए ही तो धर्म-साधना है। यदि धर्म के अभ्यास से जीवन-मूल्य ऊचे नही उठते, हमारा लोक-व्यवहार नही सुधरता, हम अपने लिए तथा औरो के लिए मगलमय जीवन नही जी सकते, तो ऐसा धर्म हमारे किस काम का? किसी के भी किस काम का? धर्म इसलिए है कि हमारे पारस्परिक सम्बन्ध सुधरें। हममे व्यवहार-कौशल्य आवे। परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय, सारे पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्धो पर ही निर्भर होते हैं। अत. शुद्ध धर्म यही है कि प्रत्येक व्यक्ति यही, इसी जीवन मे, औरो के साथ अपना व्यवहार-सम्बन्ध सुधारे। इसी जीवन मे सुख-शान्ति से जीने के लिए धर्म है। मृत्यु के बाद बादलो के ऊपर किसी अज्ञात स्वर्ग का जीवन जीने के लिए नही। मृत्यु के बाद पृथ्वी के नीचे किसी अनजान नरक से बचने के लिए नही, बल्कि हमारे ही भीतर समाये हुए स्वर्ग का सुख भोगने के लिए, हमारे अपने ही भीतर समय-समय पर यह जो नारकीय अग्नि जल उठती है, उसे शान्त करने के लिए, उससे बचने के लिए। धर्म सादृष्टिक है, प्रत्यक्ष है। इसी जीवन, इसी लोक के लिए है। वर्तमान के लिए है। जिसने अपना वर्तमान सुधार लिया, उसे भविष्य की चिन्ता करने की जरूरत नही। उसका भविष्य स्वत: सुधर जाता है। जिसने लोक सुधार लिया, उसे परलोक की चिन्ता नही। उसका परलोक स्वत: सुधर जाता है। जो अपना वर्तमान नही सुधार सका, अपना इहलोक नही सुधार सका और केवल भविष्य की ओर आशा लगाए, परलोक

की ओर टकटकी लगाए बैठा है, वह अपने आपको धोखा देता है। अपने वास्तविक मगल से वचित रहता है। शुद्ध धर्म से दूर रहता है। धर्म अकालिक होता है, यानी अभी इसी जीवन मे फल देने वाला होता है। धर्म के नाम पर कोई अनुष्ठान करें और उसका लाभ यहा न मिले, विकार-विहीन चित्त की निर्मलता का वास्तविक सुख यही इसी जीवन मे न मिले, तो समझना चाहिए कि किसी धोखे मे उलझ रहे है। शुद्ध धर्म से वचित हो रहे है। धर्म सबके लिए इसी जीवन को सुख-शान्ति बनाने हेतु है। आखों के परे किसी सुदूर भविष्य की निरर्थक चिन्ता से मुक्त होने के लिए है। यही धर्म है। यही धर्म की शुद्धता है। यही शुद्ध धर्म का जीवन है, जिसकी आवश्यकता सार्वजनीन है।

धर्म सार्वजनीन है, इसलिए शुद्ध धर्म का सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नही, कोई लेन-देन नही। शुद्ध धर्म के पथ का पथिक जब धर्म-पालन करता है तब किसी सम्प्रदाय-विशेष के थोथे निष्प्राण रीति-रिवाज पूरे करने के लिए नही, किसी ग्रन्थ-विशेष के विधि-विधान का अनुष्ठान पूरा करने के लिए नही, मिथ्या अधविश्वास-जन्य रूढि परम्परा का शिकार होकर किसी लकीर का फकीर बनने के लिए नही, बल्कि शुद्ध धर्म का अभ्यासी अपने जीवन को सुखी और स्वस्थ बनाने के लिए ही धर्म का पालन करता है। धार्मिक जीवन जीने के लिए धर्म को भलीभाति समझकर, उसे आत्म-कल्याण और परकल्याण का कारण मानकर ही उसका पालन करता है। बिना समझे हुए केवल अध-विश्वास के कारण अथवा किसी अज्ञात शक्ति को सतुष्ट और प्रसन्न करने के लिए अथवा उसके भय से आशकित-आतकित होकर धर्म का पालन नहीं करता। धर्म का पालन दूषणो का दमन करने के लिए ही नही, बल्कि प्रज्ञापूर्वक उनका पूर्ण शमन और रेचन करने के लिए करता है। धर्म का पालन केवल अपने लिए ही नही, बल्कि बहुजन के हित-सुख, मगल-कल्याण और बहुजन की स्वस्ति-मुक्ति के लिए करता है।

धर्म का पालन यही समझकर करना चाहिए कि वह सार्वजनीन है, सर्वजनहितकारी है; किसी सम्प्रदाय-विशेष, वर्ग-विशेष या जाति-विशेष से बंधा हुआ नही है। यदि ऐसा हो तो उसकी शुद्धता नष्ट हो जाती है।

धर्म तभी तक शुद्ध है, जबतक सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक है। सबके लिए एक जैसा कल्याणकारी, मगलकारी, हित-सुखकारी है। सबके लिए सरलतापूर्वक बिना हिचक के ग्रहण कर सकने योग्य है।

शुद्ध वायुमण्डल मे रहना, शुद्ध-स्वच्छ हवा का सेवन करना, शरीर स्वच्छ रखना, साफ-सुथरे कपड़े पहनना, शुद्धस्वच्छ सात्विक भोजन मुझे इसलिए करना चाहिए कि यह मेरे लिए हितकर है, परन्तु यह केवल मेरे लिए ही नही, किसी एक जाति-विशेष, वर्ग-विशेष या सम्प्रदाय-विशेप के लिए ही नही, वल्कि सबके लिए समान रूप से हितकर है। केवल मैं ही नही, कोई भी व्यक्ति यदि अशुद्ध, अस्वस्थ वातावरण मे रहता है, गन्दी, विषैली वायु का सेवन करता है, अपने शरीर और वस्त्रो को गन्दा रखता है, अस्वच्छ-दूषित भोजन करता है तो अपने स्वास्थ्य को हानि पहुचाता है, रोगी और दु.खी होता है। यह नियम सार्वजनीन है। किसी एक व्यक्ति-विशेष, किसी एक जाति-विशेष पर ही लागू नही होता। ठीक इसी प्रकार जब कोई अपने मन को विकारो से विकृत करता है तो व्याकुल होता है। उसके वात-पित्त-कफ मे विषमता पैदा होती है। वह रोग-ग्रस्त होता है। स्वास्थ्य-विज्ञान के सामान्य नियम सभी के तन और मन पर समान रूप से लागू होते हैं। प्रकृति यह नही देखती कि इन नियमों का उल्लघन करने वाला कौन है, किस जाति और किस सम्प्रदाय का है। प्रकृति किसी सम्प्रदाय-विशेष के व्यवित पर कृपा नही करती, न किसी अन्य पर कोप करती है। मलेरिया मलेरिया है। न हिन्दू है, न बौद्ध, न जैन है, न पारसी, न मुस्लिम है न ईसाई। वैसे ही कुनैन कुनैन है। वह न हिन्दू है, न बौद्ध, न जैन है, न पारसी, न मुस्लिम, है न ईसाई। इसी प्रकार क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार न हिन्दू हैं न बौद्ध, न जैन हैं न पारसी, न मुस्लिम हैं न ईसाई। वसे ही इनसे विमुक्त रहना भी न हिन्दू है न बौद्ध, न जैन है न पारसी, न मुस्लिम है न ईसाई। विकारो से विमुक्त रहना ही शुद्ध धर्म है। अत शुद्ध धर्म न हिन्दू है, न बौद्ध है, न जैन है, न पारसी है, न मुस्लिम है, न ईसाई है। वह शुद्ध धर्म ही है।

धर्म एक आदर्श जीवन-शैली है, सुख से रहने की पावन पद्धति है,

शान्ति प्राप्त करने की विमल विद्या है, सर्व जन-कल्याणी आचारसहिता है, जो सबके लिए है।

क्या शीलवान, समाधिवान, प्रज्ञावान होना केवल बौद्धो का ही धर्म है ? औरो का नही ? क्या वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह होना केवल जैनियो का ही धर्म है ? औरों का नही ? क्या स्थितप्रज्ञ, अनासक्त, जीवनमुक्त होना केवल हिन्दुओ का ही धर्म है ? औरो का नही ? क्या प्रेम और करुणा से ओत-प्रोत होकर जन-सेवा करना केवल ईसाइयो का ही धर्म है ? औरो का नही ? क्या जात-पात के भेदभाव से मुक्त रहकर सामाजिक समता का जीवन जीना केवल मुसलमानों का ही धर्म है ? औरो का नही ? धर्मपालन का मुख्य उद्देश्य है—हम आदमी बनें। अच्छे आदमी बनें। अच्छे आदमी बन जायेंगे तो अच्छे हिन्दू, अच्छे बौद्ध, अच्छे जैन, अच्छे मुसलमान, अच्छे ईसाई आदि बन ही जायेंगे। यदि अच्छे आदमी ही नही बन सके तो बौद्ध बने रहने से भी क्या हुआ ? हिन्दू, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि बने रहने से भी क्या हुआ ?

धर्म की इस शुद्धता को समझें और धारण करें। हम सबके जीवन मे शुद्ध धर्म जागे। निस्सार छिलको का अवमूल्यन हो, उन्मूलन हो; शुद्ध सार का सही मूल्याकन हो, प्रतिष्ठान हो। शुद्ध धर्म जीवन का अग बन जाय। इसी मे हमारा सच्चा कल्याण, सच्चा मगल समाया हुआ है।

२/धर्म का सार

ठीक से समझे हुए धर्म को ही ठीक से पालन किया जा सकता है। धर्म के सार को समझें। सार को समझेंगे तभी उसे ग्रहण कर पायेंगे, अन्यथा भीतर का सार-तत्व छोडकर छिलको मे ही उलझे रह जायेंगे। उन्हे ही सार समझकर धर्म मानने लगेंगे।

सार मे सदा समानता रहती है। भिन्न-भिन्न छिलके हुआ करते हैं और जहा इन छिलको को धर्म मान लिया जाता है, वहा धर्म भी भिन्न-भिन्न हो जाते है। यह हिन्दुओ का धर्म, हिन्दुओ मे भी सनातनी, आर्यसमाजी, यह बौद्धो का धर्म, बौद्धो मे भी महायानी, हीनयानी; यह

जैनियो का धर्म, जैनियो मे भी दिगम्बरी, श्वेताम्बरी; यह ईसाइयो का धर्म, ईसाइयो मे भी कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, यह मुसलमानो का धर्म, मुसलमानों मे भी शिया, सुन्नी आदि-आदि धर्म, भिन्न-भिन्न ही नही, परस्पर विरोधी भी। निस्सार छिलको को महत्त्व दिये जाने के कारण यह विभिन्नताएं हैं और इन्हें लेकर ही पारस्परिक विरोध उत्पन्न होते हैं।

कोई चोटी रखे हुए है, कोई दाढ़ी। चोटी मोटी है या पतली? दाढ़ी मुड़ी मूछवाली या भरी मूछवाली? कोई सिर के बाल बढाये हुए है—बाल खूब सजे-सवरे हैं या रूखे-सूखे जटा-जटिल? कोई सिर मुडाए हुए है तो वह भी उस्तरे से या चिमटी से? किसी ने कान छिदवा रखे हैं तो उनमे बालिया पहनी हैं या कुण्डल या मुद्राए? कोई तिलक लगाये हुए है तो तिलक चन्दन का है या रोली का या भस्म का? इस आकार का है या उस आकार का? कोई माला पहने है तो वह रुद्राक्ष की है या चन्दन की या तुलसी की? बीच मे लटकन वाली है या बिना लटकन वाली? यदि लटकन वाली है तो उसमे किस देवी-देवता, गुरु, आचार्य का चित्र या चिह्न लटकता है? कोई निर्वस्त्र है तो कोई वस्त्र पहने है। वस्त्र पहने है तो वह सिला है या अनसिला? इस रग का है या उस रग का? इस बनाव-कटाव का है या उस बनाव-कटाव का? धोती है या लुगी? पाजामा है या पतलून? कमीज है या कुर्ता? अचकन है या कोट? दुपल्ली टोपी है या तुर्की टोपी या अग्रेजी हैट? कोई गले, भुजा, कलाई, पैर या अगुलियो मे डोरा बाधे है अथवा जन्तर, तावीज या गण्डा? और है तो उसमे कोई अक है या अक्षर? या शब्द? या मन्त्र? या तन्त्र? या यन्त्र? कोई हाथ मे पात्र लिये है या करपात्री है? पात्र है तो मिट्टी का है? लकडी का है? लाहे का है? या अन्य किसी धातु का?

ये अनेक रूप-रूपाय, भिन्न-भिन्न बाह्याडम्बर, वेश-भूषा, आकार-प्रकार, बनावट-सजावट, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के प्रतीक मात्र ही नही हैं, प्रत्युत भिन्न-भिन्न धर्म बनकर पारस्परिक विरोध का कारण बन गये हैं। कभी किसी धर्मनेता ने प्यासी जनता को अमृत जैसा धर्मरस दिया, परन्तु जिस पात्र मे दिया, वह पात्र ही हमारे लिए प्रमुख हो गया। कालान्तर मे जब वह पात्र जीर्ण हुआ तो उससे छेद होकर सारा धर्मरस

वह गया। खोखला पात्र ही हमारे पास रह गया। इस पात्र के रस को हमने जाना या चखा नही। इसलिए यह खोखला पात्र हमारे लिए धर्म हो गया और इसे छाती से चिपकाए रखने को हम जीवन की सार्थकता मानने लगे।

जैसे भिन्न-भिन्न रूप-सज्जा, वैसे ही भिन्न-भिन्न थोथे, निर्जीव, निष्प्राण कर्मकाण्ड हमारे लिए वन गये हैं और हमारा उनसे गहरा चिपकाव हो गया है। शुद्ध धर्म फिर छूट गया और हम चूल्हे, चौके को, कच्ची या पक्की रसोई को, जात-पात को, छूआछूत को, इस या उस नदी, पोखरे अथवा समुद्र मे नहाने को, इस या उस तीर्थ की यात्रा कर लेने को ही धर्म मानने लगे है। इस या उस मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, चैत्य, उपाश्रय, गुरुद्वारे मे सुवह-शाम हाजिरी दे आने को ही धर्म मानने लगे हैं। पूर्व या पश्चिम की ओर मुह करके, खड़े होकर या वैठकर, घुटने मोडकर या पाल्थी मारकर, हाथ जोड-कर या अजली पसारकर, पचाग, अष्टाग या दण्डवत्-प्रणाम करके, इस या उस देवी, देवता, गुरु, आचार्य या धर्मनेता की तस्वीर, मूर्ति, चरण-चिह्न, पादपीठ या धातु-अवशेष अथवा उसके उपदेश-ग्रन्थ के सामने वन्दना करने, सिर झुकाने, दीप जलाने, नैवेद्य चढाने, आरती उतारने, शख वजाने, घण्टे-घडियाल वजाने, नाचने, गाने, अजान पढने, स्तोत्र पढने, उसके नाम की माला जपने अथवा उसकी वाणी के पाठ करने को ही धर्म मानने लगे हैं, भले यह सव यन्त्रवत् ही क्यो न होता हो। इसी प्रकार भयभीत चित्त द्वारा किसी की मनौती मनाने, प्रसाद चढाने, जात-झडुला, जादू-टोना अथवा झाड-फूक करने को ही धर्म मानने लगे हैं। किसी अज्ञात, अदृश्य सत्ता को सन्तुष्ट-प्रसन्न करने के लिए मुर्गी, वकरे, गाय, भैंसे या मनुष्य तक की वलि चढाते हैं और इसे भी धर्म ही मानते हैं। कोई वलि चढाते हुए एक झटके मे धड से सिर अलग करने को और कोई धीरे-धीरे तडपा-तडपा कर मारने को धर्म मानते है। इन भिन्न-भिन्न कार्मकाण्डो वाला धर्म वाजार मे भी विकने लगा है। हम चाहें तो पैसे के वल पर ऐसे धर्म को खरीद सकते है। जो कर्म-

काण्ड स्वय नही कर सकते, उसे किराये के लोगो से करवा सकते हैं। यह सत्य धर्म का घोर अवमूल्यन है।

सत्य धर्म की उपलब्धि के लिए हमे जो साधन मिले, हमारी नासमझी के कारण वे ही हमारे लिए बन्धन बन गए। किसी सन्त पुरुष ने हमे अन्धकार मे भटकते देख अत्यन्त करुण चित्त से हमारे हाथ मे जलती हुई मशाल पकड़ाई, ताकि उस प्रकाश के सहारे हम सही रास्ते चलकर अपनी जीवन-यात्रा सकुशल पूरी करें; परन्तु कालान्तर मे उस मशाल की ज्योति बुझ गई। हमारे हाथ मे केवल डण्डा रह गया और हम मूढतावश उस डण्डे को ही मशाल मानकर उससे चिपक गये। शिव छूट गया, शव रह गया। थोथा बाह्याचार ही हमारे लिए धर्म बन गया।

कभी यह भी होता है कि इन बाह्याचार और बाह्याडम्बर-रूपी स्थूल छिलको को तो हम धर्म नही मानते हैं, परन्तु इनकी जगह ऐसे सूक्ष्म-सूक्ष्म छिलको को धर्म मानने लगते हैं, जो अधिक भ्रामक और अधिक कठिन बाधने वाले होते हैं। जब हम किसी अन्ध मान्यता, अन्ध-भावावेश, अथवा बौद्धिक तर्कजाल को धर्म मानने लगते हैं, तो उसमे अधिक बुरी तरह उलझ जाते हैं। हम जिस परिवार मे जन्मे हैं, जिस परिवेश मे पले हैं, उस वश-परम्परा की किसी मान्यता के बारे मे बार-बार सुनते रहे हैं, अतः उस मान्यता की लकीर बार-बार मन पर पडते-पड़ते इतनी गहरी बन गई है कि उसे छोडकर और कोई मान्यता सही हो सकती है, इसे स्वीकार करने तक को तैयार नही होते। हम जिस दार्शनिक परम्परा को मान रहे हैं, उसके साथ हमारा एक भावनात्मक सम्बन्ध जुड जाता है। फलस्वरूप उसके विपरीत अन्य किसी दृष्टिकोण को कभी स्वीकार ही नही कर सकते, अथवा यह भी होता है कि अपनी तर्कबुद्धि से हमने किसी मान्यता को अपना लिया है तो अपने ही बुद्धिबल को अत्यधिक महत्ता देने के स्वभाववश अन्य किसी मान्यता को सही मानने को प्रस्तुत ही नही होते। परम्परागत मान्यता, हृदयगत भावुकता अथवा बौद्धिक तर्कजाल के कारण जब हम किसी भी मान्यता के गुलाम हो जाते हैं तो उसके प्रति इतनी गहरी आसक्ति पैदा कर लेते हैं कि

हमेशा के लिए उसी के रग का चश्मा पहन लेते हैं। अतः उस रग के अतिरिक्त अन्य कोई रग हमे दीखता ही नही। इस प्रकार सच्चाई से, शुद्ध धर्म से दूर हो जाते हैं, क्योकि हर बात को अपने ही चश्मे के रग से देखने के आदी हो जाते हैं।

मान लो, अन्धविश्वास व भावावेश अथवा बौद्धिक ऊहापोह के आधारपरहमने कोई सही सिद्धान्त ही स्वीकारकर रखा हो, परन्तु उसके प्रति हुई आसक्ति के कारण उस सिद्धान्त को स्वीकारने मात्र को ही सारा महत्त्व देने लगते हैं, उसके व्यावहारिक पक्ष को सर्वथा भुला देते हैं। किसी सिद्धान्त को स्वीकारने मात्र से क्या बनता है ? मुख्य बात तो उस सिद्धान्त को, यदि वह सही है, तो जीवन मे उतारना चाहिए। जो जीवन मे उतरे, वही सही धर्म है, अन्यथा निस्सार भावुकता है, थोथा बुद्धि-विलास है।

सैद्धान्तिक स्तर पर हम आत्मवादी हैं या अनात्मवादी, ईश्वरवादी हैं या निरीश्वरवादी, द्वैतवादी हैं या अद्वैतवादी, इतने प्रकार के तत्त्वो की सख्या गिनने वाले हैं या उतने प्रकार के तत्त्वो की, इन-इन तत्त्वो की ऐसी-ऐसी व्याख्या करने वाले हैं या वैसी-वैसी, इससे क्या अन्तर पड़ता है ? मुख्य बात तो यह है कि व्यावहारिक जगत मे हम शुद्ध चित्त का जीवन जी रहे हैं या नही ? अपने आपको ईश्वरवादी कहने वाला व्यक्ति कल की चिन्ता मे कितना व्याकुल हो रहा है ? अपने आपको अनात्मवादी कहने वाला व्यक्ति अपने अह मे किस कदर डूबा हुआ है ? ऐसी अवस्था मे कोरा सैद्धान्तिक पक्ष किस काम का ? मुख्य बात तो व्यावहारिक पक्ष की है, आचरण की है। शुद्ध चित्तपरआधारित आचरण ही धर्म है। कोई विशेष वेश-भूषा पहनें या न पहनें, कोई विशेष कर्मकाण्ड सम्पन्न करें या न करें, कोई विशेष दार्शनिक मान्यता मानें या न मानें, परन्तु यदि हमारा मन-मानस द्वेष-दौर्मनस्यता से भरा रहता है तो हम सर्वथा धर्महीन हैं और यदि वह स्नेह-सौमनस्यता से भरा रहता है तो हम धार्मिक ही हैं। कोई वेश-भूषा, कोई कर्मकाण्ड, कोई दार्शनिक मान्यता हमारे चित्त की विशुद्धि मे सहायक सिद्ध होती हो तो ग्राह्य है और यदि हमारी चित्तशुद्धिसे उसका कोई सबध नही हो तो निरर्थक, निस्सार है।

अगर यही हमे धार्मिक होने की मिथ्या भ्रान्ति पैदा करने वाली हो जाय तो जहरीले साप की तरह खतरनाक है। अत. सर्वथा त्याज्य है। जब हम धर्म के सत्य-सार को नही समझते तो ऐसे ही खतरनाक जहरीले साप-बिच्छू अपने भीतर पालते है। भाति-भाति के गन्दे-गन्दे कूड़े-करकट बटोरकर उन्हे अपनी छाती से लगाकर कहते हैं—यही हमारा धर्म, यही अनमोल रत्न, यही मणि है।

जबतक धर्म की वास्तविक मणि नही प्राप्त होती, तबतक हम कगाल हैं। हमारा जीवन निस्सार दिखावे, निरर्थक कर्मकाण्ड और निकम्मे बुद्धि-किलोल से भरा रहता है। परन्तु इतना होते हुए भी यदि हम इस सच्चाई को समझते हो कि यह सब सारहीन छिलके हैं, धर्म का सार तो चित्त की शुद्धता मे है, राग-द्वेष-मोह के बन्धनो से मुक्त होने मे है, विषम स्थितियो मे भी चित्त की समता बनाये रखने मे है, मैत्री, करुणा, मुदिता मे है और साथ-साथ यह भी समझते हो कि ये गुण हममे नही हैं, तो देर-सबेर हम धर्म के सार को प्राप्त कर ही लेते है। लेकिन जब हम इन निस्सार छिलको को ही धर्म मानने लगें तो शुद्ध धर्म प्राप्त कर सकने की सारी सम्भावनाए समाप्त हो जाती है। हम इन बाह्य छिलको मे रमे हुए कभी भीतर की ओर निहारते नही, आत्म-निरीक्षण करते ही नही। हम यह जाच कभी करते ही नही कि जिसे धर्म माने जा रहे हैं, उसकी वजह से हमारे मन-मानस मे क्या सुधार हो रहा है? हमारे जीवन-व्यवहार मे क्या सुधार हो रहा है? जन्म-मरण से मुक्ति पाने की हजार चर्चाएं करेंगे, हजार आशाए बांधेंगे, परन्तु यहा इसी जीवन मे मन को विकारो से मुक्त करने का जरा भी प्रयत्न नही करेंगे। धर्म का सार छूट जाने से जितनी बड़ी हानि होती है, उससे कई गुना बडी हानि निस्सार को सार समझकर उससे चिपक जाने से होती है। इससे तो रोग असाध्य हो उठता है।

धर्म की शुद्धता को जानना, समझना, जाचना, परखना, रोग-मुक्ति का पहला आवश्यक कदम है। शुद्ध धर्म सदा स्पष्ट और सुबोध होता है। उसमे रहस्यमयी गुत्थिया नही होतीं। पहेली-बुझौवल नही होता। दिमागी कसरत नही होती। प्रतीको और अतिशयोक्तियों से भरा हुआ

पांडित्य-प्रदर्शन नही होता। जो कुछ होता है, वह सहज ही होता है। धर्म की शुद्धता इसी मे है कि उसमे अटकलपच्चू, कपोलकल्पनाए नही होती। जो कुछ होता है, यथार्थ ही होता है। धर्म कोरा-सिद्धान्त-निरूपण नही होता। स्वय साक्षात्कार, स्वयं अनुभव करने के लिए होता है। धर्म राजमार्ग की तरह ऋजु होता है। उसमे अन्धी गलियो जैसी भूल-भुलैया नही होती। धर्म यही, इसी जीवन में, लाभ देने वाला होता है। जितना-जितना पालन किया जाय, उतना-उतना लाभ देता ही है। धर्म आदि, मध्य, अन्त हर अवस्था मे कल्याणकारी ही होता है। धर्म सर्वसाधारण के लिए समान रूप से ग्रहण करने योग्य होता है। ऐसा हो तो ही धर्म यथार्थ है, शुक्ल है, शुद्ध है, अन्यथा धर्म के नाम पर कोई धोखा हो सकता है।

वाणी के कर्म, शरीर के कर्म, आजीविका, मानसिक स्वस्थता का अभ्यास, जागरूकता का अभ्यास, एकाग्रता का अभ्यास शुद्ध हो, मानसिक चिन्तन और जीवन जगत के प्रति दृष्टिकोण भी शुद्ध हो। यही शुद्ध धर्म है।

मोटे-मोटे तौर पर कह सकते है :

१. दान—अहकार विहीन-अपरिग्रह हेतु दिया गया दान शुद्ध धर्म है।

२ शील—सदाचार का पालन करना, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्या-भापण और नशे के सेवन से विरत रहना शुद्ध धर्म है।

३ समाधि—मन को वश मे करना, उसे एकाग्र कर वर्तमान के प्रति सजग रहने का अभ्यास शुद्ध धर्म है।

४ प्रज्ञा—"मैं" "मेरे" अथवा प्रिय-अप्रिय-मूलक राग-द्वेष से रहित होकर हर व्यक्ति वस्तु और स्थिति को जैसी है, वैसी यथाभूत प्रज्ञापूर्वक देखने का अभ्यास, चित्त की समता का अभ्यास, शुद्ध धर्म है।

दान, शील, समाधि और प्रज्ञा के ये चारो अभ्यास सार्वजनीन हैं, साम्प्रदायिकता-विहीन हैं, सर्वजनहितकारी हैं, सर्वग्राह्य हैं। इसीलिए

छिलको से परे शुद्ध धर्म है। परन्तु ऐसे धर्म का अभ्यास न कर, चाहें कि हम धार्मिक हो और उससे भी अधिक यह चाहें कि लोग हमे धार्मिक मानें, तो धर्म के नाम पर विज्ञापनबाजी ही करते हैं। नाना प्रकार के बाह्याचार करते हैं। नाना प्रकार के दार्शनिक वाद-विवाद करते हैं, वाणी-विलास और बुद्धि-विलास करते हैं, और इस प्रकार आत्म-प्रवंचना, जग-प्रवचना के जजाल मे बुरी तरह जकड़ते जाते हैं। न आत्महित सधता है, न परहित।

आत्महित और परहित के लिए शुद्ध धर्म का जीवन जीना अनिवार्य है। शुद्ध धर्म का जीवन जीने के लिए धर्म की शुद्धता को जानना अनिवार्य है। धान को भूसे से, सार को छिलके से अलग करना अनिवार्य है। सार को महत्त्व देना सीखेंगे तो ही सार ग्रहण किया जा सकेगा।

शुद्ध धर्म का सार नही ग्रहण करेंगे तो द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य, दुराग्रह, अभिनिवेश, हठधर्मी, पक्षपात, सकीर्णता, कट्टरता, भय, आशका, अविश्वास, प्रमाद, कठमुल्लेपन से भरा हुआ जीवन, निस्तेज, निष्प्राण, निरुत्साही ही होगा; कुत्सित, कलुषित, कुटिल ही होगा; व्याकुल, व्यथित, व्यग्र ही होगा। शुद्ध धर्म का सार ग्रहण कर लेंगे तो प्यार और करुणा, स्नेह और सद्भाव, त्याग और बलिदान, सहयोग और सहकार, श्रद्धा और विश्वास, अभ्युदय और विकास से भरा हुआ जीवन ओजस्वी, वर्चस्वी ही होगा; उदात्त, अभय, अचिन्त्य ही होगा; सहज, सरल, स्वच्छ ही होगा; मगल-कल्याण, स्वस्ति से भरपूर ही होगा।

शुद्ध धर्म का यही प्रत्यक्ष लाभ है। प्रत्यक्ष लाभ ही शुद्ध धर्म के सार की सही कसौटी है। ●

३/धर्म का सही मूल्यांकन

धर्म का सही मूल्याकन करना सीखें। यदि सही मूल्यांकन करते रहेंगे तो दृष्टि सम्यक् रहेगी, नीर-क्षीर विभाजन-विवेक बना रहेगा, धर्म-पथ पर अपना सतुलन बनाए रख सकेंगे, अन्यथा धर्म का कोई एक अग आवश्यकता से अधिक महत्व पाकर धर्म-शरीर की सर्वांगीण

पाडित्य-प्रदर्शन नही होता। जो कुछ होता है, वह सहज ही होता है। धर्म की शुद्धता इसी मे है कि उसमे अटकलपच्चू, कपोलकल्पनाए नहीं होती। जो कुछ होता है, यथार्थ ही होता है। धर्म कोरा-सिद्धान्त-निरूपण नही होता। स्वय साक्षात्कार, स्वय अनुभव करने के लिए होता है। धर्म राजमार्ग की तरह ऋजु होता है। उसमे अन्धी गलियो जैसी भूल-भुलैया नही होती। धर्म यही, इसी जीवन में, लाभ देने वाला होता है। जितना-जितना पालन किया जाय, उतना-उतना लाभ देता ही है। धर्म आदि, मध्य, अन्त हर अवस्था मे कल्याणकारी ही होता है। धर्म सर्वसाधारण के लिए समान रूप से ग्रहण करने योग्य होता है। ऐसा हो तो ही धर्म यथार्थ है, शुक्ल है, शुद्ध है, अन्यथा धर्म के नाम पर कोई धोखा हो सकता है।

वाणी के कर्म, शरीर के कर्म, आजीविका, मानसिक स्वस्थता का अभ्यास, जागरूकता का अभ्यास, एकाग्रता का अभ्यास शुद्ध हो, मानसिक चिन्तन और जीवन जगत के प्रति दृष्टिकोण भी शुद्ध हो। यही शुद्ध धर्म है।

मोटे-मोटे तौर पर कह सकते हैं :

१. दान—अहकार विहीन-अपरिग्रह हेतु दिया गया दान शुद्ध धर्म है।

२ शील—सदाचार का पालन करना, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्या-भाषण और नशे के सेवन से विरत रहना शुद्ध धर्म है।

३. समाधि—मन को वश मे करना, उसे एकाग्र कर वर्तमान के प्रति सजग रहने का अभ्यास शुद्ध धर्म है।

४ प्रज्ञा—"मैं" "मेरे" अथवा प्रिय-अप्रिय-मूलक राग-द्वेष से रहित होकर हर व्यक्ति वस्तु और स्थिति को जैसी है, वैसी यथाभूत प्रज्ञापूर्वक देखने का अभ्यास, चित्त की समता का अभ्यास, शुद्ध धर्म है।

दान, शील, समाधि और प्रज्ञा के ये चारो अभ्यास सार्वजनीन हैं, साम्प्रदायिकता-विहीन हैं, सर्वजनहितकारी हैं, सर्वग्राह्य हैं। इसीलिए

छिलको से परे शुद्ध धर्म है। परन्तु ऐसे धर्म का अभ्यास न कर, चाहें कि हम धार्मिक हो और उससे भी अधिक यह चाहे कि लोग हमे धार्मिक मानें, तो धर्म के नाम पर विज्ञापनबाजी ही करते हैं। नाना प्रकार के बाह्याचार करते हैं। नाना प्रकार के दार्शनिक वाद-विवाद करते हैं, वाणी-विलास और बुद्धि-विलास करते है, और इस प्रकार आत्म-प्रवंचना, जग-प्रवचना के जजाल मे बुरी तरह जकड़ते जाते हैं। न आत्महित सधता है, न परहित।

आत्महित और परहित के लिए शुद्ध धर्म का जीवन जीना अनिवार्य है। शुद्ध धर्म का जीवन जीने के लिए धर्म की शुद्धता को जानना अनिवार्य है। धान को भूसे से, सार को छिलके से अलग करना अनिवार्य है। सार को महत्त्व देना सीखेंगे तो ही सार ग्रहण किया जा सकेगा।

शुद्ध धर्म का सार नही ग्रहण करेंगे तो द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य, दुराग्रह, अभिनिवेश, हठधर्मी, पक्षपात, सकीर्णता, कट्टरता, भय, आशका, अविश्वास, प्रमाद, कठमुल्लेपन से भरा हुआ जीवन, निस्तेज, निष्प्राण, निरुत्साही ही होगा; कुत्सित, कलुषित, कुटिल ही होगा; व्याकुल, व्यथित, व्यग्र ही होगा। शुद्ध धर्म का सार ग्रहण कर लेंगे तो प्यार और करुणा, स्नेह और सद्भाव, त्याग और बलिदान, सहयोग और सहकार, श्रद्धा और विश्वास, अभ्युदय और विकास से भरा हुआ जीवन ओजस्वी, वर्चस्वी ही होगा; उदात्त, अभय, अचिन्त्य ही होगा; सहज, सरल, स्वच्छ ही होगा; मगल-कल्याण, स्वस्ति से भरपूर ही होगा।

शुद्ध धर्म का यही प्रत्यक्ष लाभ है। प्रत्यक्ष लाभ ही शुद्ध धर्म के सार की सही कसौटी है। ●

३/धर्म का सही मूल्यांकन

धर्म का सही मूल्याकन करना सीखें। यदि सही मूल्यांकन करते रहेगे तो दृष्टि सम्यक् रहेगी, नीर-क्षीर विभाजन-विवेक बना रहेगा, धर्म-पथ पर अपना सतुलन बनाए रख सकेंगे, अन्यथा धर्म का कोई एक अग आवश्यकता से अधिक महत्व पाकर धर्म-शरीर की सर्वांगीण

उन्नति में बाधक बन जायगा। सम्यक् दृष्टि यही है कि जिसका जितना मूल्य है, उसको उतना ही महत्व दें—न अधिक, न कम। कंकड़-पत्थर, काच, हीरा, मोती, नीलम, मणि सबका अपना-अपना महत्व है। मिट्टी, लोहा, तांबा, पीतल, चादी, सोना, सबका अलग-अलग महत्व है। जिसका जितना महत्व है उसका उतना ही मूल्य है। लौकिक क्षेत्र मे काच और हीरे का, मिट्टी और सोने का एक जैसा मूल्याकन नही किया जाता। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र मे 'सब धान पाच पसेरी' नही तौले जाने चाहिए। 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' का अविवेकी मूल्याकन नही होना चाहिए, अन्यथा या तो किसी निस्सार छिलके को ही धर्म मान बैठेंगे अथवा धर्म के किसी नन्हे से प्राथमिक कदम को ही सबकुछ मान-कर शुद्ध धर्म की उच्चतम अवस्थाए कभी प्राप्त नही कर सकेंगे।

मसलन, दान देना अच्छा है। धर्म का एक अग है, परन्तु धर्म की कसौटी पर दान का भी अलग-अलग मूल्याकन होना चाहिए—वित्तीय नही, नैतिक। दान अधिक है या कम, इसका कोई महत्व नही होता, परन्तु देते समय चित्त की चेतना कैसी है, यही ध्यान देने की बात है। यदि उस समय चित्त मे क्रोध, या चिडचिडाहट या घृणा या द्वेष या भय या आतक या बदले मे कुछ प्राप्त करने की तीव्र लालसा है या यश की प्रबल कामना है अथवा प्रतिस्पर्धा का उत्कट भाव है, तो ऐसा दान शुद्ध, निष्काम, निरहकार चित्त से दिये गए दान की अपेक्षा बहुत हल्का है, भले मात्रा मे अधिक क्यो न हो। शुद्ध चित्त से दिये गए दान का अधिक महत्व है। इससे अपरिग्रह और त्याग धर्म पुष्ट होता है, पर इसके महत्व की भी अतिरजना कर इसे ही सबकुछ मान बैठें तो धर्म के अन्य अगो की अवहेलना होगी और वे कमजोर रह जायगे।

इसी प्रकार उपवास भी धर्म का एक अग है। हम उपवास द्वारा शरीर को स्वस्थ रखते हैं। स्वस्थ शरीर से ही धर्म का सुगमतापूर्वक पालन किया जा सकता है। शारीरिक स्वास्थ्य के अतिरिक्त मानसिक सयम के लिए भी उपवास उपयोगी है। उपवास करें और मन भिन्न-भिन्न पकवानो मे रमता रहे तो ऐसा उपवास हीन कोटि का होगा। उपवास करें और केवल शरीर को ही नही, बल्कि मन को भी सयमित

करें तो उपवास उच्चकोटि का होगा। हीन कोटि की तो बात ही क्या, उच्चकोटि के उपवास का भी अतिरंजित मूल्यांकन कर उसे ही सब कुछ मान बैठेंगे तो अहभाव के शिकार हो जायगे और धर्म के उससे भी अधिक महत्वपूर्ण अग अछूते या कमजोर रह जायगे। उनका अभ्यास करना तो दूर की बात रही, उन्हें पुष्ट करने की बात भी हम कभी नही सोचेंगे।

उपवास करने वाला शील-सदाचार के क्षेत्र मे दुर्बल हो तो उपवास करने वाले शीलवान व्यक्ति से हीन है। इसी प्रकार सामिष भोजन से निरामिष भोजन, चटपटे मिर्च-मसाले वाले राजसी भोजन से सादा सात्विक भोजन करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ है, उत्तम है, परन्तु सात्विक निरामिष भोजन करने वाला व्यक्ति इसी एक गुण के कारण अपने आपको अन्य सभी से श्रेष्ठ मानने लगे तो मिथ्या अह के कारण शुद्ध धर्म के उन्नतिपथ से भटक जायगा। भोजन मे मात्रज्ञ और गुणज्ञ होना, यानी उतना ही और वैसा ही भोजन करना, जितना और जैसा कि हमारे शरीर के लिए उपयोगी और आवश्यक है—धर्म का एक अच्छा अग है, परन्तु धर्म के उससे भी अच्छे और ऊचे अंग है, ऐसा नही जानेंगे तो उनसे वचित रह जायगे।

अपना अधिकाश समय आलस्य, तन्द्रा मे गवाने वाले व्यक्ति की अपेक्षा यथावश्यक कम-से-कम समय सोकर, अधिक-से-अधिक समय जागरूक रहने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से अधिक अच्छा है, परन्तु ऐसे व्यक्ति को भी धर्म-पथ की आगे की बहुत-सी मजिलें प्राप्त करनी होती हैं, इसे वह न भूल जाय।

टहलना, दौडना, तैरना, व्यायाम करना और इसी तरह आसन, प्राणायाम करना, शरीर को स्वस्थ और फुर्तीला बनाए रखने के लिए आवश्यक है, लाभदायक है। इसी प्रकार रोज नहाना, शरीर को स्वच्छ रखना, साफ-सुथरे कपड़े पहनना अच्छा है। स्वास्थ्य के क्षेत्र मे इनका अपना महत्व है, अपना मूल्य है, परन्तु केवल इन्ही को सम्पूर्ण धर्म मान बैठें और शरीर की बाहरी सफाई मे ही लगे रहकर भीतरी सफाई रोक दें तो अपनी हानि ही होगी।

कोई व्रत पालन करता है तो इसलिए कि मन संयमित, निग्रहित,

सबल, सुदृढ़ हो, धर्म मार्ग पर अविचल आरूढ हो; परन्तु इन व्रतों को ही सबकुछ मान बैठें तो यही बन्धन बन जायगे, कोई माला फेरता है और मन-ही-मन किसी मन्त्र का जाप करता है तो मन को एकाग्र करने के लिए ही; परन्तु मन की एकाग्रता का जरा भी अभ्यास करें नहीं और यन्त्रवत् माला फेरना और मन्त्र जपने की रूढि को ही धर्म मान बैठें तो वह भटकाव है।

कोई मन्दिर जाकर अपने उपास्यदेव की मूर्ति के दर्शन करता है। इससे उनके मन मे श्रद्धा जागती है। श्रद्धा से मन मे सौमनस्यता जागती है। सौमनस्यता चित्त को एकाग्र करने मे सहायक होती है। अपने उपास्यदेव की मूर्ति खुली आखो से देखता है और फिर आख मूद कर बार-बार उसका ध्यान करता है। इस अभ्यास द्वारा वह आकृति बन्द आखो के सामने भी आने लगती है। इस प्रकार चित्त को एकाग्र करने का एक साधन प्राप्त हो जाता है। आकृति का ध्यान करते-करते अपने उपास्यदेव के गुणो का ध्यान करने लगता है और उन गुणो को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करने लगता है। यह सचमुच कल्याणकारी है, परन्तु यह सब तो करे नही, केवल मन्दिर जाने और मूर्ति के सामने यन्त्रवत् सिर झुकाने को ही सम्पूर्ण धर्म मान ले तो वह गलत मूल्यांकन के कारण रूढियों मे उलझना है।

इसी प्रकार भजन-कीर्तन तल्लीनता के लिए हैं। चित्त को एकाग्र करने के साधन हैं; परन्तु इन्हें इससे अधिक कुछ और मानने लगें तो फिर भुलावे मे पड़ जाते हैं। किसी गुरु या संत का दर्शन, उसको किया गया नमन, उसके प्रति श्रद्धा जगाने के लिए है। उसके गुणो को देखकर मन में प्रेरणा जगाएं और वे गुण स्वयं धारण करें, इसी निमित्त हैं। परंतु इसका इससे अधिक मूल्यांकन करने लगते है तो विवेक खो बैठते हैं और अन्धश्रद्धा के कारण बुद्धि जड होने लगती है। किसी धर्म-ग्रन्थ का पाठ करते हैं अथवा श्रवण करते हैं तो इसलिए कि उससे हमे प्रेरणा मिले, मार्गदर्शन मिले, जिससे कि धर्म जीवन मे उतार सकें; परन्तु इसे भुलाकर केवल श्रवण, पठन को ही सबकुछ मान लेते है तो गाडी फिर मिथ्या-दृष्टि के दलदल मे धस जाती है।

कोरा वाणी-विलास और बुद्धि-विलास धर्म नही है। जीवन मे उतरा हुआ शील-सदाचार ही धर्म है। शील-सदाचार की भी अलग-अलग श्रेणिया हैं। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य और अप्रमाद—इन शीलो मे से कोई एक, कोई दो, कोई तीन, कोई चार अथवा कोई पाचो का पालन करता है तो एक-से दूसरा क्रमश· अधिक धार्मिक है। इनमे भी कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट शील का पालन इसलिए कर पा रहा है कि जिस परिस्थिति और परिवेश मे वह जन्मा, पला और रहता है, वह उस शील-पालन के अनुकूल है। दूसरा व्यक्ति नितान्त प्रतिकूल परिस्थिति मे भी उस शील का पालन करता है, मन को वश मे रखता है, तो यह दूसरा व्यक्ति पहले से अधिक श्रेष्ठ है।

मन को वश मे करना धर्म का महत्वपूर्ण अग है। यही समाधि है। परन्तु एक व्यक्ति समाधि हासिल करने के लिए जिस आलम्बन का प्रयोग करता है, वह राग, द्वेष या मोह बढाने वाला हो तो वह व्यक्ति दूषित चित्त से समाधिस्थ होता है। दूसरा व्यक्ति ऐसे आलम्बन अपनाता है, जो कि राग, द्वेष और मोह को क्षीण करने वाले है, तो पहले की अपेक्षा यह दूसरा व्यक्ति अधिक उत्तम है। दूषित चित्त की एकाग्रता द्वारा मनोबल प्राप्त करके भी अनेक प्रकार की ऋद्धिया-सिद्धिया हासिल की जा सकती हैं। इनके बल पर सामान्य लोगो को चकाचौंध कर देने वाले चमत्कार प्रदर्शित किये जा सकते हैं, परन्तु इसे धर्म मान लेना खतरनाक है। यह आवश्यक नही कि जिस व्यक्ति ने सिद्धिया प्राप्त कर ली, वह धर्मवान हो। अनेक दु.शील व्यक्ति चमत्कार प्रदर्शित करते हुए देखे जाते हैं। अत. चमत्कारो के आधार पर धर्म का मूल्याकन नही किया जा सकता। करते हैं तो मूल्याकन गलत होता है। समाधि के साथ शील की भूमिका अनिवार्य है।

शुद्ध समाधि के मार्ग पर भी विभिन्न उपलब्धिया होती हैं। कभी हम लगातार तीन घण्टे एक आसन पर बैठे रह जाते हैं। परन्तु आसन-सिद्धि साधना का अतिम लक्ष्य नही है। इसी प्रकार एकाग्रता के अभ्यास के दौरान कभी-कभी बन्द आखो के सामने हम प्रकाश, ज्योति, रूप, रग, आकृतिया, दृश्य आदि देखने लगते हैं। कभी-कभी कानो से कोई

अपूर्व शब्द सुनते हैं, नाक से कोई अपूर्व गन्ध सूघते हैं, जीभ से कोई अपूर्व रस चखते हैं, शरीर से किसी अपूर्व स्पर्श का अनुभव करते हैं और इन भिन्न-भिन्न अतीन्द्रिय अनुभूतियो को दिव्य ज्योति, दिव्य शब्द, दिव्य गन्ध, दिव्य रस और दिव्य स्पर्श कहकर इनको आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने लगते हैं तो भटक ही जाते हैं। इसी प्रकार समाधि का अभ्याम करते हुए कभी सास सूक्ष्म होते-होते अनायास रुक जाती है। स्वत कुम्भक होने लगता है। अभ्यास करते-करते विचारो और वितर्को का ताता मन्द पडने लगता है और कभी निर्विचार, निर्विकल्प अवस्था आ जाती है। एकाग्रता बढती है तो भीतर प्रीति-प्रमोद जागता है। आनन्द की लहरें उठने लगती हैं। मन और शरीर रोमाच-पुलक से भर जाता है। बहुत हल्कापन महसूस होता है। परन्तु इन भिन्न-भिन्न प्रिय अनुभूतियों को ही सबकुछ मानकर इनकी अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या करने लगें तो भी भटक जाते हैं। ये अनुभूतिया इस लम्बे मार्ग पर मील के पत्थरो जैसी है। इनमे से किसी के साथ चिपक जाय तो वह पत्थर गले का भार बन जाता है। आगे बढना मुश्किल कर देता है। ये अनुभूतिया धर्मशालाए जैसी हैं। इनमे से किसी को अन्तिम लक्ष्य मानकर उसमे टिक जाय तो आगे के रास्ते पर चलना ही नहीं हो सकता। यात्रा बन्द हो जाती है। पहले से लेकर आठवें ध्यान तक की सभी समाधिया एक-से-एक अधिक उन्नत हैं, परन्तु आठों ध्यानो मे पारगत हो जाने पर भी आध्यात्मिक क्षेत्र मे सम्पूर्णता नही मानी जाती। आठो समाधि समापत्तियो की सहज अनुभूति करने वाले साधक को भी प्रज्ञावान होना नितान्त आवश्यक है।

प्रज्ञावान प्रज्ञावान मे भी भेद है। कोई प्रज्ञावान ऐसा है, जिसने श्रुतमयी प्रज्ञा हासिल की है, यानी पढ-सुनकर प्रज्ञा की जानकारी प्राप्त की है। दूसरा ऐसा है, जिसने चिन्तनमयी प्रज्ञा भी हासिल की है, यानी जो पढा-सुना उसे चिन्तन-मनन द्वारा बुद्धि की कसौटी पर कसकर युक्तिसगत मानकर ही स्वीकार किया है। पहले से दूसरा प्रज्ञावान निश्चित रूप से उत्तम है। परन्तु पहले और दूसरे से वह तीसरा प्रज्ञावान कही अधिक उत्तम है, जो कि भावनामयी प्रज्ञा हासिल करता है, यानी प्रत्यक्ष अनुभूतियो के बल पर स्वय अपनी प्रज्ञा जगाता है।

हमने अपनी भावनामयी प्रज्ञा जाग्रत की है अथवा परायी प्रज्ञा के बल पर केवल बुद्धि-रजन किया है, इसकी स्वय जाच करते रहना चाहिए। प्रज्ञा के नाम पर यदि केवल बुद्धि-रजन हुआ होगा तो जीवन की विषम परिस्थितियो मे मन उत्तेजित, उद्वेलित हुए बिना नही रहेगा। भावना-मयी प्रज्ञा का जितना अभाव होगा, मानसिक असमता उतनी ही अधिक होगी। भावनामयी प्रज्ञा के बल पर जो व्यक्ति, वस्तु, स्थिति, जैसी है उसको जब हम वैसे ही, उनके सही स्वरूप मे और उसके सही गुण-धर्म-स्वभाव मे, देखते हैं तो अपने मन का सन्तुलन बिगडने नही देते। अन्तर्मन में समाई हुई दौर्मनस्य की विभिन्न ग्रन्थिया स्वत. खुलने लगती हैं। चित्तके दूषण दूर होते हैं। उसमे निर्मलता आती है। निर्मलता आती है तभी सकीर्णता के स्थान पर उदारता, दुर्भावना के स्थान पर सद्भावना, द्वेष के स्थान पर प्यार, ईर्ष्या के स्थान पर मोद और वैर के स्थान पर मैत्री जागती है। ये सारे सद्गुण जीवन मे आ रहे हैं या नही ? हमारे रोजमर्रा के व्यवहार मे प्रकट हो रहे है या नही ? इसी मापदण्ड से धर्म के क्षेत्र मे हम अपनी उन्नति के मापें। जैसे-जैसे प्रज्ञा मे स्थित होते जायगे, वैसे-वैसे स्वभाव से शील पुष्ट और समाधि सुदृढ होती जायगी। मन वश मे रहने लगेगा। सदाचार जीवन का सहज-स्वभाव बन जायेगा। उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नही करना पडेगा। अपने अन्धे स्वार्थ के लिए औरो की हानि करने की सकीर्ण बुद्धि दूर होगी। अपने सुख-साधन औरो को बाटकर भागीदार बनाने की दानवृत्ति सहजभाव से जीवन का अग बन जायगी। इस प्रकार जैसे-जैसे धर्म की सर्वांगीण पुष्टि होने लगेगी, वैसे-वैसे अनेक रूढिया, जो कभी धर्म-साधन के रूप मे प्राप्त हुई थी और जिन्हे नासमझी के कारण हमने सिद्धि मान-कर छाती से चिपका लिया था, वे साप की केंचुली की तरह बिना किसी कष्ट और प्रयास के अपने आप छूटती चली जायगी, और जो नई त्वचा आयगी, वह निष्प्राण नही, बल्कि सजीव धर्म से उर्मिल होकर आवेगी।

त्वचा का अपना महत्त्व है, परन्तु निष्प्राण हो जाय तो भी उसे चिपकाए रखना नासमझी है, छिलको का अपना महत्त्व है। परन्तु उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाय तो भी मोहवश उन्हे चिपकाए रखना

नामसज्ञी है। शुद्ध प्रज्ञा पुष्ट होती है तो हर वस्तु का उचित ही मूल्याकन होता है। लुभावने तर्कजाल से प्रभावित होकर किसी उपयोगी वस्तु को नष्ट नही कर देते और न ही परम्पराओ के प्रति भावावेशमयी आसक्तियो के कारण किसी निकम्मी वस्तु को गले से लगाए रखते हैं। पुष्ट हुई प्रज्ञा से ऐसा विशुद्ध विवेक जागता है, जिसमे न थोथा तर्कजाल टिक सकता है और न अधभावावेश। धर्म के प्रत्येक अग का सही-सही मूल्याकन होने के कारण धर्म का सर्वांगीण और समुचित विकास होने लगता है।

सर्वांगीण और समुचित विकास न हो तो हम अपना स्वास्थ्य खो बैठते है। शरीर का कोई एक ही अग जरूरत से ज्यादा विकसित हो जाय और बाकी सारा शरीर अविकसित रह जाय तो सारे शरीर के साथ-साथ वह विकसित अग भी रोगी ही माना जाता है। इसी प्रकार धर्म-शरीर का भी कोई एक अग इतना अधिक विकसित हो जाय कि अन्य सभी अगो के विकास मे रुकावट पैदा कर दे तो सम्पूर्ण धर्म-शरीर तो रोगी हो ही जाता है, वह अग-विशेष भी रुग्ण ही माना जाता है। अत समग्र धर्म-शरीर को स्वस्थ-सबल रखने के लिए आवश्यक है कि धर्म के सभी अगो का समुचित विकास हो। इस निमित्त सभी अगो का विवेकपूर्वक समुचित मूल्याकन होते रहना आवश्यक है।

माला-तिलक जैसे बाह्याडम्बर, नदी-स्नान, तीर्थाटन जैसे बाह्य कर्मकाड अथवा आत्मवाद, अनात्मवाद जैसी बुद्धि-रजनीय दार्शनिक मान्यताए आदि की तो बात ही क्या, यदि हम एक अच्छे व्रत का पालन करते हुए अथवा किसी शील का पालन करते हुए उसकी भी अतिरजना करने लगें तथा शुद्ध धर्म के अन्य अगो की अवहेलना करते हुए उसी से परामर्श यानी चिपकाव करने लगे तो यही शील-व्रत परामर्श हमारे लिए भयकर रोग साबित हो जायगा। इससे बचने के लिए और शुद्ध धर्म के सर्वांगीण और समुचित विकास के लिए हर बात का सही-सही उचित-उचित मूल्याकन होते रहना आवश्यक है। धर्ममय मगल-जीवन की यही कल्याण-कुजो है। ●

४/सत्य ही धर्म हैं

सत्य के अतिरिक्त धर्म की और क्या व्याख्या हो सकती है ? सत्य ही धर्म है, असत्य अधर्म । यहा सत्य का अर्थ केवल वाणी की सच्चाई ही नही, बल्कि धर्म शब्द की भाति इसका भी वही व्यापक अर्थ है—यानी स्वभाव, गुण, नियम, विधान । प्रकृति के अपने गुण-स्वभाव हैं, नियम-विधान है। उन नियम-विधानो की, उन धर्मो की, सच्चाई से सारा सजीव, निर्जीव चराचर विश्व बधा हुआ है। इस व्यापक अर्थ मे सत्य और धर्म पर्यायवाची शब्द हैं ।

प्रकृति के स्वभाव की सच्चाई हम जितनी-जितनी समझें और स्वीकारें, उतने-उतने धर्म को ही स्वीकारते हैं। सच्चाई तीन प्रकार से स्वीकारी जाती है। स्वीकारने का पहला कदम श्रद्धा की भूमिका से आरम्भ होता है । किसी बुद्ध ने, ज्ञानी ने, अपने बोधि-ज्ञान द्वारा मिली इस सच्चाई को शब्दो मे व्यक्त किया । हमारे मन मे उस महापुरुष के प्रति श्रद्धा जागी और हमने उसके शब्दो को स्वीकार किया । यह शब्द-सत्य को स्वीकारना हुआ । परन्तु शब्द-सत्य मे सच्चाई की परिपूर्णता नही हुआ करती । जब किसी अनुभूतिजन्य ज्ञान को शब्दो पर उतारा जाता है, यानी जब कोई सत्यद्रष्टा, ऋतद्रष्टा ऋषि शब्द-स्रष्टा बनता है तो सत्य का कुछ अश नष्ट हो ही जाता है। इसलिए शब्द-सत्य आशिक सत्य ही होता है, क्योकि शब्द और भाषा की अपनी सीमाए हैं। उन्नत-से-उन्नत भाषा भी आन्तरिक अनुभूतियों को स्पष्टतया व्यक्त कर सकने मे असमर्थ रहती है और फिर सत्य-शोधको की कुछ अनुभूतिया ऐसी हैं, जो वर्णनातीत होती हैं । शब्दो द्वारा उनका वर्णन नही किया जा सकता। उनके बारे मे नेति-नेति ही कहा जाता है। कहने वाला केवल इतना ही कहकर रह जाता है कि ऐसा तो नहीं है, ऐसा तो नही ही है। तीन आयामो को देखने-समझने वाले लोगो को चौथे आयाम की जानकारी किन शब्दो मे कराई जाय ? इन्द्रियातीत अवस्था की अनुभूति इन्द्रियो के माध्यम से कैसे समझाई जाय ? समझाने की कोशिश करें तो कोई समझे भी कैसे ? अत. हर समझदार आदमी के लिए इन अनुभवो की

चर्चा करते हुए नकारने के सिवाय कोई चारा नही रहता। ऐसा परम सत्य कभी शब्द-सत्य बन हीं नही सकता।

इन्द्रियातीत अनुभूति के लिए तो शब्द असमर्थ हैं ही, परन्तु ऐन्द्रिय अनुभूतियो को भी शब्दो मे ठीक-ठीक नही ढाला जा सकता। सूक्ष्मतर आन्तरिक अनुभूतिया अधिकतर गूगे का गुड ही बनी रह जाती हैं। व्यक्त करने के सभी प्रयत्न अधूरे रहते हैं। भापा की सीमाओ के अतिरिक्त वोलने तथा लिखने वाले की और उससे भी अधिक सुनने और पढने वाले की अपनी-अपनी सीमाए है, जो कि शव्द-सत्य के पूर्ण सत्य वनने मे वाधक होती है। कहने वाला जो कहना चाहता है, उसे ठीक-ठीक कह न सके और जो कहे, वह जिस अर्थ मे कहा गया है, सुनने वाला उस अर्थ मे समझ न सके, यही शब्द-सत्य की अपूर्णता है।

परन्तु फिर भी अनुभूति-जन्य सत्य को शव्दो मे उतारने के प्रयत्न होते ही हैं। कुछ अशो मे उनका लाभ हुआ है और कुछ अशो मे हानि भी। जहा उन्हें खुले दिमाग से अपनाया गया, वहा लाभ हुआ, परन्तु जहा उन्हे पूर्ण सत्य मानने की हठधर्मी हुई, वहा साम्प्रदायिक अधविश्वास और अध-मान्यताओ को वढावा मिला। लोगो के दिमाग पर ताले लगे। सत्य-अनुसधान के क्षेत्र मे मानव की प्रगति रुकी।

परन्तु आखिर मानव तो मनु पुत्र है न ? मन मे उपजा है। मनन-चिंतन करके ही किसी सत्य को स्वीकारना उसका जन्मजात सहज स्वभाव है। साम्प्रदायिक नेताओ द्वारा उसके चिंतन-मनन की प्रतिभा को कुठित कर उसे जड भरत बनाए रखने के हजार प्रयत्नो के वावजूद मानव-समाज का एक प्रवुद्ध वर्ग शव्द-सत्य को जाचने-परखने, बुद्धि के तराजू पर तौलने, तर्क की कसौटी पर कसने और युक्तियो के हथौडो की चोट लगाने का काम करता ही रहा है। इसी से मत्य का एक दूसरा स्वरूप उजागर हुआ,जिसे अनुमान-सत्य या वौद्धिक-सत्य कहा गया। हर सच्चाई को वुद्धि की भट्टी मे तपाया जाना चाहिए। उसकी जाच मे दिमाग लगाया जाना चाहिए। युक्तियुक्त और तर्कसगत लगे तो ही स्वीकारना चाहिए। इसी नीति के करण सत्य के अनुसधान के क्षेत्र मे मानव की प्रगति आरम्भ हुई। अधविश्वासो, अध-मान्यताओ और दकियानूसी

कठमुल्लेपन को गहरी चोटें लगी। मानवीय विकास का रास्ता खुला। अंधश्रद्धा और भक्तिभावावेश के घुटन-भरे माहौल से और शब्द-सत्य को सम्पूर्ण सत्य मानने के दुराग्रह-भरे घने कुहरे से बाहर निकलने मे सफलता मिली। किसी बात को आंख मूदकर मान लेने की आदत छूटी। ऐसा क्यो ? यह जानने की उत्सुकता बढी।

परन्तु जिस प्रकार शब्द-सत्य की मान्यता अधिकत: अधविश्वासो से दूषित हो उठी, उसी प्रकार अनुमान यानी बौद्धिक सत्य की मान्यता भी बहुधा शुष्क तर्क-वितर्क के घने जगल मे ही भटक कर रह गई। वैसे भी इन दोनो से यानी शब्द और अनुमान से सत्य का आभास ही हो सकता है, अनुभूति नही। सत्याभास यानी धर्माभास और जहा धर्माभास होता है वहा धर्म के नाम पर भ्राति फैलने की ही आशका रहती है। सत्य की अनुभूति ही धर्म की सही अनुभूति है। अत इन दोनो के आगे की कल्याणकारी मजिल प्रत्यक्ष सत्य की मजिल है। प्रत्यक्ष सत्य यानी स्वानुभूतियो के स्तर पर प्रगट हुआ सत्य। आध्यात्मिक सत्य के सूक्ष्म आभ्यान्तरिक अनुसंधान की यही सही यात्रा है। यही धर्म की गहरी खोज है। इन प्रत्यक्ष अनुभूतियो द्वारा जितना-जितना सत्याश प्रकट होता है, मानव उतना-उतना धर्म-पथ पर आगे बढता है।

परन्तु अनुभूतियो के स्तर पर सत्य-धर्म का स्वय अन्वेषण कर उसे स्वीकारना कठिन काम है, जबकि अधविश्वास के स्तर पर किसी पराए कथन को स्वीकार कर लेना सरल है। इसीलिए मानव जाति के लम्बे इतिहास मे अधिकतर शब्द-सत्य के आधार पर अधविश्वासी सम्प्रदाय ही पनपे। कुछ थोडे-से लोगो ने अधविश्वास को ठुकराकर बुद्धि का प्रयोग किया, परन्तु वे भी बहुधा अनुभूति के क्षेत्र मे शून्य रह जाने के कारण बौद्धिक मत-मतान्तरो वाले सम्प्रदायो के प्रणेता अथवा अनुयायी ही होकर रह गए। जहा आन्तरिक अनुभूति होती है, वहा साम्प्रदायिक भेद-भाव के लिए गुजाइश कम रहती है, अन्यथा शब्दो और बौद्धिक तर्क-वितर्को की भिन्नता विभिन्न सम्प्रदायो का पोषण करती है। आन्तरिक अनुभूतिया भी निष्पक्ष सत्य-शोधन हेतु हो तो ही शुद्ध धर्म को बल देती हैं, अन्यथा पूर्वाग्रह-पूर्ण हो तो ये भी मत-मतातरो को बढावा देंगी।

वस्तुतः सत्य तो एक ही है। भिन्न-भिन्न कैसे होगा ? समग्र प्रकृति का विधान एक ही है, अलग-अलग कैसे होगा ? परन्तु किसी की प्रत्यक्ष अनुभूति पर उतरा हुआ यह विधान जब वाणी का चोला पहनता है तो ये चोले अवश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। भाषा, शब्द, वक्ता भिन्न-भिन्न होने के कारण सत्य भी भिन्न-भिन्न लगते हैं। जब कोई भक्त किसी महापुरुष द्वारा अनुभूत सत्य को स्वय अपनी अनुभूति पर तो उतारता नही, परतु अधश्रद्धा-जन्य भावावेश के स्तर पर उसकी वाणी को स्वीकृति देकर ही अपने आपको धन्य मान बैठता है तो उस वाणी और उन शब्दो के साथ उसका गहरा चिपकाव हो जाना स्वाभाविक है। उसे वे शब्द ही सत्य नजर आते है, बाकी सब मिथ्या। यही से सम्प्रदाय की बुनियाद पडनी शुरू होती है। सत्य का साक्षात्कार करने वाला किसी सम्प्रदाय से कैसे बधेगा ? परन्तु शब्दो मे लोट-पलोट लगाने वाला सम्प्रदाय का पोषण करता है। पहले के लिए भाषा महज माध्यम है, अतः गौण है, परन्तु दूसरे के लिए भाषा और शब्द ही प्रमुख हैं।

यदि मैं हिन्दू सम्प्रदाय मे हू तो "यम-नियम" शब्द का प्रयोग हुआ देखकर प्रसन्न हो उठता हू, बौद्ध हू तो "पचशील", जैन हू तो "अणुव्रत" और ईसाई हू तो "टेन कमाडमेट्स" के शब्दो को सुनकर गर्व से छाती फुला लेता हू। लेकिन धर्म की वास्तविक सच्चाई जीवन मे उतरी या नही, शील-सदाचार जीवन का अग बना या नहीं, अपनी सकीर्ण साम्प्रदायिक वृत्ति के कारण मैं इसे कतई महत्व नही देता। केवल शब्दो को ही 'मेरा धर्म' 'तेरा धर्म' कहकर अच्छे-बुरे की सज्ञा देता रहता हू।

"सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र्य" इन शब्दो का प्रयोग किसी भी जैन को कर्णप्रिय लगता है। इसी प्रकार "शील, समाधि, प्रज्ञा" किसी बौद्ध को, "स्थितप्रज्ञ, अनासक्त" किसी गीता-भक्त को और "होली इनडिफरेस" का प्रयोग किसी ईसाई को। वैसे ही किसी को "धर्म" शब्द सुनते ही लगता है मानो कानो मे चादी की घटिया बज रही हो और उसी व्यक्ति को 'धम्म' शब्द सुनते ही लगता है मानो छाती पर मूसलो के धमाधम्म धमाके लग रहे हो। इसके ठीक विपरीत किसी दूसरे व्यक्ति को "धम्म" शब्द मे देव-दुन्दुभि जैसा श्रुति-मधुर मगल-घोष

सुन पड़ता है और "धर्म" शब्द उसे कांटे की तरह चुभता है। कैसी आसक्ति पैदा कर ली है हमने शब्दों के साथ ! इसी कारण इनके अर्थों की ओर ध्यान नहीं जाता और ध्यान चला भी जाय तो वह भी उतना ही बेमाने है, जबकि अर्थ जीवन मे उतरते नही। सम्प्रदाय और धर्म मे यही मौलिक भेद है। सप्रदाय शब्दो को महत्त्व देता है और धर्म अर्थों को तथा उन्हे धारण करने को। हम अपने आपको हजार सम्प्रदाय-विहीन कहे, परन्तु सच्चाई यही है कि हमारे लिए सम्प्रदाय प्रमुख हो गए हैं; इसीलिए शब्द प्रमुख हो उठे है, अर्थ गौण। प्रत्यक्ष अनुभूति तो लुप्तप्राय हो गयी है। जिसे देखो, शब्द-सत्य के पीछे पागल है। बहुत थोड़े हैं, जो अनुमान-सत्य की ओर बढते हैं। प्रत्यक्ष सत्य तक जाने की किसी को फुर्सत ही नही और कोई उसकी आवश्यकता भी महसूस नही करता।

हम हिन्दुओ की बाछें खिल जाती हैं, जबकि कोई गैर हिंदू गीता का कोई श्लोक अपने भाषण मे उद्धृत करता है। इसी प्रकार हम बौद्धो की व जैनियो की हृदययन्त्री के तार बजने लगते है, जबकि कोई अबौद्ध या अजैनी धम्मपद या महावीर-वाणी को अपने भाषणो मे उद्धृत करता है। कैसा चिपकाव पैदा कर लिया है हमने अपने-अपने सम्प्रदाय की वाणियो से। जिस परम्परा और परिवेश मे हम जन्मे और पले है, उसके धर्म-ग्रथो के प्रति श्रद्धा, आदर और झुकाव होने मे कोई दोष नही, क्योकि उन्ही से हम प्रेरणा और मार्ग-दर्शन पाते हैं; परन्तु दोष आसक्ति से है, चिपकाव से है। यह हमारे चिपकाव का ही परिणाम है कि यदि वही सच्चाई कोई अन्य सम्प्रदाय वाला अपनी भाषा मे बोले और अपने महापुरुष द्वारा कही हुई बताए तो हमारा मन कितना चिड़चिड़ा उठता है ? सच्चाई पराई-सी लगती है। इस चिपकाव का मुख्य कारण यही है कि हमारी श्रद्धा बांझ रह गयी। उसका कोई फल नही हुआ। हमने अपने धर्म-ग्रन्थों की सच्चाई को महज श्रद्धा तक ही सीमित रखा। स्वानुभूतियों से उसका स्वाद चखा नही। अत हमारे लिए तो सदा शब्द ही सत्य रहे हैं, और जिन शब्दो मे यह सच्चाई कही गई है, वे हमारी परम्परा के हैं नही, इसीलिए हमारे लिए शब्दो के साथ-साथ सच्चाई भी परायी हो गयी है। परन्तु जब हम उसी सच्चाई का स्वय साक्षात्कार कर लेते हैं

तो उसमे परायापन नही रह जाता। सत्य तो सत्य है, अलग-अलग कैसे होगा? सस्कृत, पाली, प्राकृत, हिब्रू, अरबी आदि विभिन्न भाषाओ के शब्द, शब्द-सत्य मानने वालो को अलग-अलग लगेगे। परन्तु इससे जरा आगे बढें और थोड़ा-सा भी बुद्धि का प्रयोग करें तो यह बौद्धिक अनुमान-सत्य कई एक गुत्थियो को खोलने मे सहायक होगा। सत्य से सम्बन्ध रखने वाली अनेक विभिन्नताए दूर करेगा। परन्तु जब स्वय अनुभूतियो पर उतारने लगेंगे तो सच्चाई की सारी विभिन्नताए शनै.-शनै. दूर होगी ही। सच्चाइयो मे भेद नजर नही आयेगा, बशर्ते कि अनुभूति का प्रयोग पूर्वाग्रह-विहीन हो और सत्य-शोधन के लिए ही हो।

सत्य न अपना होता है, न पराया। न पुराना होता है, न नया। न बूढ़ा होता है, न जवान। न बर्मी होता है न भारतीय। न हिन्दू होता है न मुसलमान। सत्य सत्य है—सदा एक-सा, सर्वत्र एक-सा परन्तु किसी मान्यता को जब कोरी कपोल कल्पनाओ पर आश्रित कर सत्य मानने लगते हैं तो विभिन्नता आती ही है। निष्पक्ष अनुभूतिजन्य सत्य मे भेद नही हुआ करता। शब्द-सत्य और अनुमान सत्य की सीमाओ को लाघकर जब हम प्रत्यक्ष सत्य को महत्व देने लगते है तो मिथ्या कल्पनाओ की जड़ें हिलने लगती हैं। शुद्ध धर्म प्रतिष्ठापित होने लगता है। जो अनुभूतियो पर उतरे वही सत्य, ऐसा मानकर चलना धर्म के रास्ते पर चलना है। सत्य के, ज्ञान के, मुक्ति के रास्ते पर चलना है। ऐसे माहौल मे अधविश्वास टिक नही सकता। अनृत, झूठ, पनप नही सकता। सत्य धर्म अनुसधान का विषय है, अधानुकरण का नही।

परन्तु जहा सम्प्रदाय पनपता है, वहा साम्प्रदायिक नेता सत्य को समीप नही आने देते। सच्चाई को तर्क की कसौटी पर भी कसने नही देते, अनुभूतियो पर उतारना तो बहुत दूर की बात है। कहते हैं, धर्म मे अक्ल को दखल नही। कैसा धर्म है यह, जिसमे अक्ल को स्थान न हो? बिना अक्ल, बिना बोधि का धर्म, धर्म कैसे हुआ? हा, यह ठीक है कि सम्प्रदाय मे अक्ल की दखल नही होती, क्योकि अक्ल आते ही सम्प्रदाय के टुकड़े-टुकडे हो जाते हैं। वहा तो अधविश्वास ही पनपता है, अनृत के धरातल पर अधर्म ही पनपता है, धर्म नही पनप सकता।

जब आदमी अपने दिमाग को कैद कर लेता है, तो सच्चाई का अनुसंधान स्वतः बन्द हो जाता है। धर्म के पाव कट जाते हैं, उसकी आखें फूट जाती हैं और वह लगड़ा और अधा होकर सम्प्रदाय बन जाता है। आदमी ने तब-तब सत्य की शोध करनी छोड़ी जब-जब कि "बाबा वचन प्रमाण" वाला गुरुडम उसके सामने दीवार बनकर खड़ा हो गया।

किसी भी सकीर्ण बुद्धि वाले साम्प्रदायिक नेता को यही भय बना रहता है कि मेरे बाड़े की एक भी भेड़ यह बाड़ा तुडाकर किसी दूसरे मे न जा मिले। मेरे सभी अनुयायियो का भेड़-बकरियो और गाय-बैलो का-सा अन्धानुकरण वाला स्वभाव बना रहे, इसीलिए वह उन पर अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओ की गहरी वाणी चढाए रखता है। अनेक वेतुकी और असगत बातो को मानने के लिए मजबूर करता रहता है। न माने तो नारकीय यत्रणाओ का आतक और माने तो मुक्ति-मोक्ष का प्रलोभन देता रहता है। उसकी नजरो मे धर्म भले छूटे, पर सम्प्रदाय बना रहे। क्या दशा हो गयी है हम मनु-पुत्रो की ? मनन-चितन का स्वभाव क्या खो बैठे, अधसम्प्रदाय का भूत सिर पर सवार कर लिया। हम अपने-अपने धर्म-ग्रन्थो को बिना सोचे-समझे सत्य मानें और दूसरे धर्म-ग्रन्थो को बिना पढे ही असत्य मानें, ऐसा भावावेश हमारे भीतर कूट-कूटकर भरा गया है। हमें धर्म से कोई लेना-देना नही। हमारे लिए सम्प्रदाय ही प्रमुख है। बुरे-से-बुरा अधार्मिक दुराचारी व्यक्ति भी यदि हमारे सप्रदाय में है तो भला, अन्यथा अच्छे-से-अच्छा धार्मिक सदाचारी व्यक्ति भी पराए सम्प्रदाय मे है, तो हमे आखो नही सुहाता।

हम अपने मां-बाप से विरासत मे जैसे अपनी शक्ल-सूरत पाते हैं, बोली-भाषा पाते हैं, वैसे ही अधविश्वास और अधमान्यताए पाते हैं। अंध-भक्ति का भावावेश पाते हैं। साम्प्रदायिकता का वह आतक प्रलोभन भी पाते हैं, जो हमारी अध-मान्यताओ की जकड़ को मजबूत बनाता है। परन्तु साथ-साथ मानवीय बौद्धिक सम्पदा के बीज भी पाते हैं। हम अपने मा-बाप से प्राप्त हुई शक्ल-सूरतें नही बदल सकते, पर इन मान्यताओ को अपनी बुद्धि के प्रयोग से और अपनी अनुभूतियो के बल पर अवश्य बदल सकते हैं। जितनी काम की हो, उन्हें रख सकते हैं, जो निकम्मी हो, उन्हें

उखाड फेंक सकते हैं। अक्ल का बिल्कुल इस्तेमाल न करें, स्वानुभूतियों का जरा भी अभ्यास न करें तो बिना समझे ही उन अध-मान्यताओ को अपनी शक्ल और सूरत की तरह वैसी ही बनाए रखने की हर चन्द कोशिश करते हैं।

सत्य-धर्म के अनुसंधान मे अंध-मान्यताओ के साथ कोई समझौता नही हो सकता। जहा-जहा भी अध-मान्यताओ का आग्रह है, वहा धर्म नही, सम्प्रदाय है, और समझना चाहिए कि कोई हमे स्वार्थवश या अज्ञानवश अपने बाड़े मे बाधे रखना चाहता है। सत्य और धर्म के लिए विचार, विमर्श और वाणी का स्वातन्त्र्य नितान्त आवश्यक है। प्रत्यक्ष अनुभूतियो का अभ्यास उससे भी अधिक आवश्यक है। इन पर वेडिया लगी हो तो समझो, हम सत्य और धर्म से दूर भटक रहे हैं।

अनुमान और प्रत्यक्ष सत्य का गठबन्धन बडा कल्याणकारी होता है। जो अनुभव करें, उसे बौद्धिक स्तर पर समझें और जिसे बौद्धिक स्तर पर समझें, उसे अनुभूतियो के स्तर पर जानें, यही सत्य-शोध है। इस सत्य-शोध मे शब्द-सत्य भूमिका और मार्ग-निर्देशन का कार्य करता है, बशर्ते कि हम उसका उपयोग खुले दिमाग से करें। लेकिन जब सत्य का शोधक किसी पूर्व मान्यता का पक्षधर हो जाता है, तो सत्य का अनुसधान छूट जाता है। फिर तो जीवन भर येन-केन-प्रकारेण अपनी मान्यता को सत्य सिद्ध करने मे ही सारा परिश्रम लगा देता है।

किसी महापुरुष की अनुभूति-सिद्ध वाणी हो, उस पर हमारी बुद्धि की कसौटी की परख हो और उसके आधार पर हमारा प्रत्यक्षानुभूति का अभ्यास हो तो सत्यधर्म का रथ ठीक दिशा मे आगे बढता है और गंतव्य तक पहुचाता है। सत्य के इन तीनो महत्वपूर्ण अगो का ठीक-ठीक उपयोग करते हुए हम असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, बंधन से मुक्ति की ओर, बढ़ते चलें। इसी मे हम सबका कल्याण, मगल, भला समाया हुआ है। •

५/सम्यक् धर्म

सम्यक् माने ठीक, सही, यथार्थ, सत्य। अत. सम्यक् धर्म माने सत्य धर्म, सत् धर्म, सद्धर्म—ऐसा धर्म, जिसमे मिथ्यात्व को कही स्थान नही, जिसका कल्पना से कोई वास्ता नही। यदि कोई उपदेशक किसी मिथ्या बात को, मिथ्या ही क्यो सही बात को भी, अध-श्रद्धा से महज कल्पना के स्तर पर मान लेने का आग्रह करे तो समझो, वह सम्यक् नही, मिथ्या धर्म का उपदेश कर रहा है।

सम्यक् माने शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल निर्दोष, निष्कलुष। अत. सम्यक् धर्म माने शुद्ध धर्म, ऐसा जिसमें पाप के लिए किंचित भी स्थान नही, जिसका जोर-जबरदस्ती से कोई वास्ता नही। धर्म निर्मल होता है तो सहज स्वीकार्य होता है, क्योकि न्यायसगत होता है, युक्तिसगत होता है। कोई उपदेशक कहे कि मेरी बात ननु-नच किए बिना, तर्क-वितर्क किए बिना, अक्ल की दखल दिए बिना, आंख मूदकर इसलिए मान लो कि न मानने पर कोई अदृश सत्ता तुम्हे असह्य नारकीय यत्रणा का दड देगी और मान लेने पर प्रसन्न होकर तुम्हारे सारे पाप भुला देगी और स्वर्गीय सुख का वरदान देगी, तो समझो, वह सम्यक् नही, मिथ्या धर्म की छलना है।

सम्यक् माने अक्षत, अखड, अविकल, पूर्ण। सम्यक् धर्म माने परिपूर्ण परिपक्व धर्म। धर्म की परिपूर्णता, परिपक्वता उसे पूरी तरह धारण कर लेने मे है। महज पठन-पाठन, चर्चा-परिचर्चा धर्म की अविकल्प परिपूर्णता नही है। बुद्धि-क्रीडा और बुद्धि-रजन धर्म की पूर्ण परिपक्वता नही है। पढे-सुने धर्म का चिंतन-मनन करके उसे सम्यक् रूपेण धारण कर लेना, जीवन का अग बना लेना, सहज स्वभाव बना लेना ही उसकी परिपूर्णता है, परिपक्वता है। यही धर्म का सम्यकत्व है। कोई उपदेशक कहे कि मेरी वाणी को सुन लेने मात्र से अथवा अमुक दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने मात्र से तुम्हारी मुक्ति हो जायगी, धर्म धारण न भी करो तो भी कोई अदृश्य सत्ता इसी बात पर तुम पर रीझ कर तुम्हारे सारे पाप धो देगी, तो समझो, फिर धर्म सम्यक् नही, मिथ्या है, मायावी है।

सत्य, स्वच्छ धर्म जीवन मे उतरना ही चाहिए—तो ही सम्यक् है, कल्याणप्रद है, अन्यथा भ्रामक है, दुखदायी है। जिस किसी को धर्म के सम्यक् स्वरूप का ज़रा भी बोध हो जाता है, वह सदैव इस भ्राति से बचने का प्रयत्न करता है। धर्म को रूढि-पालन और बुद्धि-किलोल का विषय नही बनने देता। सारा बल धारण करने के अभ्यास मे ही लगाता है। इस सम्बन्ध मे हमारे देश की एक बहुत उज्जवल पुरातन कथा है। कुरु प्रदेश का एक बालक, राजकुमार युधिष्ठिर। अन्य राजकुमारो के साथ उसे भी गुरु से दो छोटे-छोटे वाक्यो में धर्म के उपदेश मिले। औरो ने उन वाक्यो को रट कर गुरु महाराज की शाबासी शीघ्र सहज हासिल कर ली, पर उस बालक के लिए तो सम्यक् धर्म ही सही धर्म था। वह उसे धारण करने के अभ्यास मे दिन बिताने लगा और इस कारण नासमझ गुरु के कोप का भाजन हुआ। दण्ड मिला सम्यक्मार्गी सुबोध राजकुमार को, जबकि दोषी था दुर्बोध आचार्य। पर बेचारा आचार्य भी क्या करता ! रूढियो का, परम्पराओ का, शिकार था। छिलको को धर्म मानने का आदी था। उसके लिए तो धर्म के ये छिलके ही अधिक मूल्यवान थे। इन राजकुमारों को धर्म के कुछ बोल सिखा दूगा, वे रट कर याद कर लेंगे, घर पर माता-पिता पूछेंगे—पाठशाला में क्या पढा, तो विद्यार्थी रटे हुए उन धर्म-वाक्यो को तोते की तरह सुना देंगे। मा-बाप खुशी मे फूल उठेंगे, आचार्य का श्रम सफल माना जायगा, वह पुरस्कृत होगा, आजीविका सुगमतापूर्वक चलती रहेगी। धर्म पढ़ने-पढाने का यही मूल्य था उसकी नज़रो में। धर्म का यह ओछा और छिछला मूल्याकन न जाने कब से चला आ रहा है। आज भी कायम है और लगता है, भविष्य मे भी चलता ही रहेगा। पढना, सुनना और याद कर लेने का काम सरल है, पर जीवन मे उतारने का काम कठिन है। अत्यन्त कठिन है। इस कठिन को कोई नही करना चाहता। यही कारण है कि हम धर्म के नाम पर अधिकतर मिथ्याधर्म के ही शिकार बने रहते हैं। सम्यक् धर्म हमसे कोसो दूर रहता है। समीप आए भी तो कैसे ? जब मिथ्या को ही सम्यक् मान बैठते है तो मिथ्या प्रमुख हो जाता है, सम्यक् गौण। अतः सम्यक् को समीप लाने का कोई प्रयत्न भी तो नही करते।

काया, वाणी और चित्त के सभी कर्मों मे धर्म समा जाय, तो ही सम्यक् हो। यदि इसी को जीवन का चरम लक्ष्य मानकर अभ्यास मे जुट जाय तो जितनी-जितनी सफलता मिले, उतना-उतना लाभ हो। पूरी सफलता मिल जाय, तो निस्सदेह पूरा लाभ हो। सर्वांगीण, सम्यक् धर्म को जीवन मे उतारने का अभ्यास करते रहने मे हमारा सही मगल समाया हुआ है। बिना किसी जाति या सम्प्रदाय के भेदभाव के, सब का सही मगल इसी मे समाया हुआ है। देखें, धर्म का सर्वांगीण सम्यक् स्वरूप क्या है?

हमारी वाणी सम्यक् हो। वाणी सम्यक् तब होती है, जबकि हम झूठ-कपट, गाली-गलौज, कटु-कठोर, चुगली-निन्दा और ऊल-जलूल बकवास-भरे वचनो से वस्तुत· छुटकारा पा लेते हैं।

हमारे शारीरिक कर्म सम्यक् हो। शारीरिक कर्म सम्यक् तब होते हैं, जबकि हम हिसा-हत्या, चोरी-जारी, नशे-पत्ते आदि के दुष्कर्मों से यथार्थत: मुह मोड लेते हैं।

हमारी आजीविका सम्यक् हो। आजीविका तब सम्यक् होती है, जबकि हम अपने जीवन-यापन के साधनो को वास्तविकता के स्तर पर शुद्ध करते हुए छल-छद्म, जालसाजी, तस्करी-चोरी को सर्वथा त्यागते हैं और ऐसा कोई व्यवसाय नही करते, जिससे कि धन-सचय की तीव्र लालसा के वशीभूत होकर अन्य अनेको को हानि पहुचावें।

हमारे प्रयत्न सम्यक् हो। प्रयत्न तब सम्यक् होते हैं, जबकि हर प्रयत्न सचमुच एक ऐसा व्यायाम बन जाता है, जिससे कि हमारा मन दुर्गुण-विपन्न और सद्‌गुण-सपन्न हो।

हमारी जागरूकता सम्यक् हो। जागरूकता तब सम्यक् होती है, जबकि हम अपने कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मों के प्रति सजग-सचेत रहने के वास्तविक अभ्यास मे जुट जाते हैं।

हमारी समाधि सम्यक् हो। समाधि तब सम्यक् होती है, जबकि सतत अभ्यास द्वारा हम अपने चित्त को किसी सत्य आलबन के सहारे देर तक सजग, समाहित रख सकने मे सचमुच सफल होते हैं।

हमारे सकल्प सम्यक् हो। संकल्प तब सम्यक् होते हैं, जबकि हम

अपनी चित्त-धारा पर से हिंसा, क्रोध, द्वेष, दौर्मनस्य की दुर्वृत्तिया वास्तव मे दूर कर देते हैं।

हमारा दर्शन सम्यक् हो। दर्शन तब सम्यक् होता है, जबकि हम बुद्धि-किलोल से छुटकारा पाकर परम सत्य का यथार्थत दर्शन कर लेते हैं।

दर्शन माने फिलासफी नही समझें, अन्यथा किसी मत-मतान्तर का फिलासफी के सिद्धान्तो का चिंतन-मनन ही हमारे लिए सम्यक् दर्शन बन बैठेगा और इस प्रकार मिथ्या दर्शन मे उलझे रह जायगे। दर्शन माने साक्षात्कार। परन्तु साक्षात्कार का भी अर्थ यह नही कि बार-बार के निदिध्यास द्वारा यथार्थ से सर्वथा दूर, किसी कल्पना-प्रसूत रग-रोशनी, रूप-आकृति को बन्द आखो से देखकर इस मिथ्यादर्शन को ही सम्यक् दर्शन मानने लगें। दर्शन माने सत्य की स्वानुभूति। अपने ही भीतर स्थूल सत्य से आरम्भ करके सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर सत्यो की स्वानुभूति करते हुए जब परम सत्य की स्वानुभूति होती है तो ही दर्शन सम्यक् होता है। सम्यक् दर्शन के इस अनुभूति-जन्य धरातल पर जो ज्ञान होता है, वही ज्ञान सम्यक् है, अन्यथा बुद्धि किलोल-जन्य मिथ्या ज्ञान है। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनो की उपलब्धि साथ-साथ होती है। सम्यक् दर्शन हो जाय तो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् बोध हो ही जाता है, जो कि अभ्यासजन्य धर्म का चरमोत्कर्ष है।

सतत् अभ्यास करते-करते सर्वांगीण धर्म को जब हम सम्यक् बनाते हैं, परम परिशुद्ध करते हैं, तो जीवन-व्यवहार मे स्वभावत. सर्वतोमुखी उन्नति होती है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों मे से अशुद्धिया दूर होती हैं। जीवन कृतकृत्य होता है, धन्य होता है। त्रिविध आचरण स्वत. सुधरते जाते हैं। चारित्र्य सम्यक् होता जाता है। यदि ऐसा न हो और केवल किसी सम्प्रदाय-विशेष की रूढि-परम्पराओ का पालन करते हुए अपने आपको सम्यक् चारित्र्यवान् कहे, तो धोखे मे पडते हैं। चित्त विकारो से मुक्त हो नही, व्यवहार मे सौम्यता आवे नही, पारस्परिक वर्ताव मे शुद्धि आवे नही, फिर भी सम्यक् चारित्र्य कहे तो मिथ्या को ही सम्यक् मान लेने की भ्राति होगी।

धर्म की तीन मजिलें हैं— परियत्ति, पटिपत्ति, पटिवेध। परियत्ति

माने धर्म के शास्त्रीय ज्ञान की निपुणता। पटिपत्ति माने धर्मपथ का स्वयं प्रतिपादन। पटिवेध माने मार्ग का अनुशीलन करते हुए, सारी विघ्न-बाधाओ का भेदन कर धर्म के अतिम लक्ष्य को प्राप्त कर लेना। धर्म का परियत्ति अग निरर्थक नही है, परन्तु वह सार्थक भी तभी होता है, जबकि उससे आगे प्रतिपत्ति और प्रतिवेधन का प्रयोग कर लिया जाय।

धर्म महज शास्त्रीय ज्ञान मे नही, आचरण मे है। धर्म सैद्धान्तिक मान्यता मे नही, सिद्धान्तो का जीवन जीने मे है। धर्म आचरण मे उतरे तो ही परिपूर्ण होता है, सम्यक् होता है, अन्यथा मिथ्या-ही-मिथ्या रहता है—चाहे उसे बौद्ध कहे या जैन, ईसाई कहे या हिन्दू, मुस्लिम कहे या यहूदी, पारसी कहे या सिक्ख या और कुछ।

किसी भी सम्प्रदाय के धर्म-गुरु से पूछ देखें। वह यही कहेगा कि धर्म की उपरोक्त बातें यानी काया, वाणी और चित्त के कर्मों को शुद्ध करने की बातें हमारे धर्म की ही हैं। कोई नही कहेगा कि ये हमारे धर्म के बाहर की बातें हैं। तो यह बात सबके धर्म की हुई, सार्वजनीन हुई, सप्रदाय-विशेष की नही। परन्तु साथ-साथ हम यह भी देखते हैं कि सभी सप्रदायो मे ऐसे लोगों की सख्या ही अधिक है, जोकि अपने आपको धर्मवान तो समझते है, परन्तु धर्म के सार को धारण नही करते। धर्म को जीवन मे नही उतारते। अत यह रोग सार्वजनीन है, विश्वव्यापी है, किसी एक सप्रदाय-विशेष का नही।

हम धर्म का जीवन नही जी रहे हैं, यह जितना बुरा है, उससे हजारो गुणा बुरा यह भ्रम है कि वस्तुत हम धर्म का ही जीवन जी रहे हैं। विचित्र विडम्बना है। रोगी होते हुए भी अपने आपको निरोग मान रहे हैं। अजीब नशा छाया है हम पर। सब सप्रदाय वालो पर एक-सा नशा। सभी कुओ मे भाग पडी है। किसी भी सप्रदाय के हो, अपने-अपने सप्रदाय की किसी विशिष्ट वेश-भूषा को धारण कर लें अथवा अपनी परम्परा का कोई रूढ कर्मकाड पूरा कर लें अथवा अपने सप्रदाय के शास्त्रो द्वारा उद्घोषित किसी दार्शनिक सिद्धान्त की मान्यता अपने मन मे कट्टरता से भर लें और महज इसी से समझ बैठें कि हम धर्म का जीवन जी रहे हैं, भले हमारे दैनिक जीवन मे धर्म का नामोनिशान न हो। धर्म के नाम

पर कितना गहरा नशा है यह ! पश्चिम के किसी समझदार आदमी ने कहा है, धर्म अफीम का नशा है ! जो धर्म नही है, उसे धर्म मानकर जीने मे अफीम का ही नही, बल्कि उससे भी बड़ा नशा है। अफीम का नशा तो समय पाकर उतर जाता है, परन्तु इस मिथ्या धर्म के नशे मे डूबा हुआ व्यक्ति सारा जीवन बेहोशी मे बिता देता है। नशा उतरने का नाम नही लेता। रोज-ब-रोज तेज होता जाता है।

अपना तथा सबका सही मगल चाहने वाले व्यक्ति को इस नशीले खतरे से बचना चाहिए और यह भलीभाति समझ लेना चाहिए कि धर्म की चरम परिणति, उसका अन्तिम लक्ष्य, उसका एकमात्र उद्देश्य उसे जीवन मे उतारने मे है। जो धर्म पढा-सुना गया, सोचा-समझा गया, पर धारण नही किया गया, वह सम्यक् नही है, परिपूर्ण नही है, अभी कच्चा है। कच्चे घड़े के सहारे नदी पार करना खतरनाक है। उसे पकाए। हजार कठिनाइयो के बावजूद भी उसे धारण करने के अभ्यास को ही महत्व दें। कही ऐसा न हो जाय कि अभ्यास के रास्ते कोई मील का पत्थर हमे रोक ले, कोई मृग-मरीचिका हमे भ्रात कर दे और हमारी प्रगति रुक जाय ! जिस धर्म को हम धर्म मान रहे है, वह सम्यक् है, अथवा मिथ्या, इस सच्चाई को बार-बार परखते रहे और परखने का एकमात्र तरीका यही है कि धर्म जीवन मे उतर रहा है या नही। हमारे दैनिक व्यवहार मे आ रहा है या नही ? हमारा भला इसी मे है कि जब हम देखें हमारे जीवन मे धर्म नही उतर रहा है तो भले ही हम ऐसी वेश-भूषा धारण करते हैं या वैसी, ऐसे क्रियाकाड करते हैं या वैसे, इस सप्रदाय मे दीक्षित है या उसमे, ऐसी दार्शनिक मान्यता मानते हैं या वैसी, आत्मवादी हैं या अनात्मवादी, ईश्वरवादी है या अनीश्वरवादी, द्वैतवादी हैं या अद्वैतवादी; हम इस बात को स्वीकारते हुए जीए कि हम धर्मवान नही हैं, कदापि नही हैं। जीवन में उतरे तो ही धर्म है, वरना धोखा है। हम महज तर्क, श्रद्धा, रूढि-पालन और दार्शनिक मान्यता के स्तर पर ही धर्म को स्वीकार करके न रह जाय, बल्कि वास्तविकता के स्तर पर उसे जीवन में उतारें—तो ही धर्म सम्यक् है, तो ही कल्याणकारी है, तो ही मगल-कारी है। ●

६/समता धर्म

समता धर्म है। विषमता अधर्म। समता अनासक्ति है। विषमता आसक्ति। जहा आसक्ति है, वहा दुख है। जहा अनासक्ति है, वही सच्चा सुख, सच्ची शान्ति है।

विपश्यना-साधना द्वारा हम देखते हैं कि शरीर पर आधारित इस चित्तधारा मे विविध कारणो से समय-समय पर सुखद और दुखद दोनो ही प्रकार की सवेदनाए प्रकट होती रहती हैं। सुखद सवेदना हमे प्रिय लगती है और उसके प्रति राग पैदा होता है। परिणामत उसे बनाये रखने के लिए आतुर रहते हैं। वह छूट न जाय, इसलिए आशकित-आतकित हो उठते है। असुरक्षितता की वेचैनी महसूस करने लगते है। परन्तु प्रकृति के परिवर्तनशील नियमो के कारण यह सुखद सवेदना नष्ट होती ही है, और जब दुखद सवेदना प्रकट होती है तो उसके प्रति द्वेष जागता है। उसे दूर करने के लिए आतुर हो उठते हैं। क्या यह कभी दूर नही होगी ? इस भय-आशका से आतकित हो उठते है। फिर असुरक्षा की बचैनी मे जकड़ जाते है। दोनो ही अवस्था में अशात, वेचैन रहते हैं। राग और द्वेष से आसक्ति जागती है। असुरक्षा की भावना जागती है। मन अपना सन्तुलन खो बैठता है। यही विषमता है। सुखद-दुखद स्थितियों के रहते भी मन राग-द्वेष से विहीन रहे, तभी अनासक्त रहता है। सुरक्षितता महसूस करता है। सन्तुलन नही खोता। शात रहता है।

सुखद-दुखद स्थिति के प्रति पूर्ण सवेदनशील और जागरूक रहकर भी अविचलित रहना ही समता है। समता चट्टानी जडता नही है, मरघट की शान्ति नही है। जहा चित्त को उत्तेजित करने वाले आलबन-उद्दीपन ही न हो, वहां समता सही समता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? जहा उत्तेजित करने वाले आलबन-उद्दीपन हो, तो भी, उत्तेजित हो सकने वाला चित्त ही सुषुप्त हो, वहा भी समता सही समता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? समता नकारात्मक नही है, मूढता, मूर्च्छा, कुण्ठा नही है। कोई हमे भाजी की तरह काट जाय और हमे पता ही न चले, ऐसी अचेतन अवस्था नही। यह कोई अनस्थेस्या की सुघनी या मोर्फिन

का इन्जेक्शन नही है। पूर्ण चेतन रहे, फिर भी सम रहे, तो ही समता है, अन्यथा गहरी नीद मे सोने वाला अथवा मूर्च्छित अथवा मूढ व्यक्ति समता का दम्भ भर सकता है।

सुखद से प्रफुल्लित हो उठना और दुखद से मुरझा जाना ही वैषम्य है। दोनो के रहते सन्तुलित-समरस रहना समता है। परन्तु समता हमे अशक्त और कर्मशून्य नही बनाती। सच्ची समता आती है तो प्रवृत्ति जागती है। ऐसी प्रवृत्ति परम पुरुषार्थ का रूप धारण करती है। परम पुरुषार्थ मे अपने-पराए का भेद नही रहता है। ऐसी पुरुषार्थ-प्रदायिनी समता जितनी सबल होती है, जीवन मे उतना मगल उतरता है—आत्म-मगल भी, जन-मगल भी। समता जितनी दुर्बल होती है, उतना ही अनर्थ होता है—अपना भी औरो का भी।

समता-धर्म जीवन-जगत से दूर भागना नही है। पलायन नही है। जीवन-विमुख होना नही है। समता-धर्म जीवन-अभिमुख होकर जीना है। जीवन से दूर भागकर आखिर कहा जायगे ? विषयो से दूर भागकर कहा जायगे ? सारा ससार विषयो से भरा पडा है। विषय हमारा क्या बिगाडते है ? वे न हमारे शत्रु हैं, न मित्र। न भले हैं, न बुरे। भला-बुरा है उनके प्रति हमारा अपना दृष्टिकोण—अनासक्त अथवा आसक्त दृष्टिकोण, सम अथवा विषम दृष्टिकोण। यदि हम विषयो से दूर भागने के बजाय उनसे उत्पन्न होने वाले विकारो को समता से यानी अनासक्ति से देखना सीख जाय तो उन विषयो के रहते हुए भी विकारो को निस्तेज कर लेंगे। समता से देखना ही विशेषरूप से देखना है, प्रज्ञापूर्वक देखना है, सम्यक् दृष्टि से देखना है। यही विदर्शना है, यही विपश्यना है। समतामयी विपश्यना की दृष्टि प्राप्त होती है तो "मैं-मेरे" का और "राग-द्वेष" का कोहरा दूर होता है। जो जैसा है, वैसा ही दीखता है, और तब हम अन्ध प्रतिक्रिया करना छोड देते हैं। समता की सुदृढ भूमि पर स्थिर होकर हम जो कुछ करते है, वह शुद्ध क्रिया होती है, प्रतिक्रिया नही। इसलिए कल्याणकारी होती है। अमगलकारी नही।

भीतर चित्त-धारा मे उठने वाली सुखद-दुखद सवेदनाओ के प्रति पूर्ण समता का भाव आने लगता है तो बाह्य जीवन मे सहज समता प्रकट होने

लगती है। बाह्य जीवन-जगत की सारी विषमताएं आन्तरिक समता को भग नही कर पाती। जीवन मे आते रहने वाले उतार-चढाव, ज्वार-भाटे, बसत-पतभड, धूप-छाह, वर्षा-आतप, हार-जीत, निन्दा-प्रशसा, मान-अपमान, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वो से मन विचलित नही होता। सारी स्थितियो मे समरस बना रहता है।

आन्तरिक समता की पुष्टि से ही योग-क्षेम पुष्ट होता है। इसी के बल पर हजार प्रतिकूल परिस्थितियो के बावजूद भी अपनी सुरक्षा का मिथ्या भय दूर रहता है। जीवन मे वैशारद्य आता है, निर्भयता आती है, अगले क्षण क्या हो जायगा ? इसके लिए चिन्तित, व्यथित, आकुल-व्याकुल नही होता। मेरे पुत्र-कलत्र, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा, सत्ता-शक्ति, स्वास्थ्य-आयु सुरक्षित रहेगे या नही ? इन निरर्थक चिन्ताओ से मुक्ति मिलती है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति को अपरिवर्तनीय बनाए रखने का प्रमत्त प्रयास, जीवन-जगत की सतत् प्रवाहमान धारा को रोक रखने का उन्मत्त आग्रह, पानी के बुदबुदो को मुट्ठी मे भीचकर 'मेरा' बनाए रखने का निपट निरर्थक प्रयत्न सहज ही छूट जाता है। जीवन से कुटिलता, विषमता, खिचाव-तनाव, स्वत. दूर होने लगते है। परिस्थितियो की बदलती हुई लहरो पर सहजभाव से तैरना आ जाता है। नितान्त कर्मशील रहते हुए भी परिणामो के प्रति उन्मुक्त निश्चितता आती है और साथ-साथ व्यवहार-कौशल्य मे प्रौढता आती है। यही समता धर्म का मगल परिणाम है।

समता आती है तो मन, वाणी और शरीर के कामो मे शुद्धता आती है। उनमे सामञ्जस्य आता है। परिणामत जीवन मे स्वस्थता आती है। वात-पित्त-कफ मे विषमता आने से शरीर रोगी हो जाता है। इसी प्रकार मन, वाणी और शरीर के कर्मों मे विषमता आने से जीवन रोगी हो जाता है। मन मे कुछ हो, बोलें कुछ और, करें कुछ और; तो अस्वस्थ ही हो जायगे। ताल-स्वर-लय की समता से जैसे तन्मयता आती है, वैसे ही मन-वाणी-शरीर के कर्मों की समता से भी तन्मयता आती है। परम सुख प्राप्त होता है। समता का सुख ससार के सारे सुखो से परे है, श्रेष्ठ है।

समता ही स्वस्थता है। मन की समता नष्ट होती है तो नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं—मानसिक भी और परिणामत. शारीरिक भी। समतापूर्ण जीवन जीने वाला कलावन्त व्यक्ति ही स्वस्थ जीवन जीता है। समतामय जीवन जीने वाले का अहभाव, आत्मभाव नष्ट होता है। वह अहतारहित अनात्मभाव का मगल जीवन जीता है। 'मैं' और 'तू' का विषमताभरा एकातीय, एकपक्षीय दृष्टिकोण टूटता है। समता-समन्वय का अनेकान्तीय, अनेकपक्षीय दृष्टिकोण पनपता है। विषमता आसक्ति की ओर झुकाती है। आसक्ति अतियो की ओर झुकाती है, और अतियो की ओर झुक जाने के कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण उत्पन्न होने लगते है। "केवल मेरी मुक्ति हो जाय, वाकी समाज भले जहन्नुम मे जाय। यह पुत्र, कलत्र, भाई, वन्धु सब वन्धन हैं। मुझे इनसे क्या लेना-देना? मैं कैसे अपनी मुक्ति साध लूं? इनके भले-बुरे से मुझे कोई वास्ता नही।"—ऐसा सोचनेवाला व्यक्ति अतियो के एक अन्त मे उलझा रहता है। दूसरी ओर केवल 'मैं' और 'मेरे' परिवार की सीमित परिधि मे आकठ डूबा हुआ व्यक्ति अतियो के दूसरे अन्त मे उलझा रहता है। समता धर्म मध्यम मार्ग का धर्म है। समता-धर्म आत्म-मगल और परमगल के समन्वय-सामजस्य का धर्म है। व्यक्ति जगल के पेड-पौधो की तरह स्थावर नही है, जगम है, चलता-फिरता है और अन्य अनेक लोगो से उसका सम्पर्क, सम्बन्ध बना रहता है। आत्म-शोधन के लिए कुछ काल एकात वास करना और अन्तर्मुखी होना आवश्यक और कल्याणकारी है। परन्तु इस प्रकार शोधे हुए मन का बाह्य जगत मे सम्यक् प्रयोग होने पर ही धर्म पुष्ट होता है।

"मैं" के सकुचित बिन्दु से चिपके रहने के कारण ही दृष्टि धूमिल हो जाती है। कर्म-सिद्धान्त की वैज्ञानिकता स्पष्ट समझ मे नही आती। व्यक्ति आसक्तिजन्य अतियो की ओर झुक जाता है और यह मानने लगता है कि हर व्यक्ति अपने पूर्व कर्मों से ही प्रभावित होता है। औरो के कर्मों से उसे कुछ भी लेना-देना नही, जबकि सच्चाई यह है कि हर व्यक्ति अपने कर्मों से तो प्रभावित होता ही है, परन्तु सारे समाज के कर्मों से भी कम प्रभावित नही होता। व्यक्ति अपने कर्मों का फलित पुतला तो

है ही, परन्तु समग्र मानव-समाज की अबतक की प्रगति या प्रतिगति भी की विरासत भी लिये ही हुए है। हमारे कर्म हमे तो प्रभावित करते ही हैं, परन्तु कमोबेश औरो को भी प्रभावित करते रहते हैं। हम अपने कर्मों की विरासत अपनी भाव-धारा को तो दे ही रहे हैं, परन्तु साथ-साथ आने वाली पीढियो को भी कुछ-न-कुछ दे रहे हैं। न व्यष्टि समष्टि से अछूता रह सकता है और न समष्टि व्यष्टि से। न व्यक्ति समाज से अछूता रह सकता है और न समाज व्यक्ति से। दोनो अन्योन्याश्रित हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति और समुदाय के सम्बन्धो मे समता, सामजस्य की स्थापना ही शुद्ध धर्म का मगल परिणाम है। समता का शुद्ध धर्म जितना-जितना विकसित होता है, व्यक्ति उतना-उतना 'मैं' के सकुचित बिन्दु से आगे बढता है। यह 'मैं' का बिन्दु ही है, जो अपने इर्द-गिर्द 'मेरे' के वृत्त पैदा करता रहता है। शनै-शनै इस मेरे के वृत्त की सकीर्णता भी दूर होती है। 'मेरे' का वृत्त विकसित होते-होते साम्य की पूर्णता प्राप्त होने पर असीम हो जाता है।

जबतक 'मैं' की सकीर्णता मे आबद्ध रहता है, तबतक इस 'मैं' के लिए किसी की भी हानि करने मे नही सकुचाता। दायरा जरा-सा बढता है तो जिन्हें 'मेरा' कहता है उनकी हानि करने से रुकता है। 'मैं' के दायरे से निकलता है तो 'मेरे' के सकुचित दायरे तक सीमित हो जाता है, 'मेरी पत्नी', 'मेरा पुत्र' के दायरे तक। उससे और आगे बढता है तो मेरे कुल, मेरे गोत्र, मेरे वर्ण, मेरी जाति, मेरे सम्प्रदाय, मेरे राष्ट्र की परिधि मे अटक कर रह जाता है। समता धर्म मे परिपुष्ट होता है तो ये परिधियां भी टूटती है। मानव मात्र ही नही, प्राणिमात्र के हित-सुख मे अपना हित-सुख देखता है। किसी भी प्राणी के हित-सुख का हनन करके अपने हित-सुख की कुचेष्टा करना तो दूर, ऐसा चिन्तन तक नही कर सकता।

जहा दायरे है, वहा विषमता है। दायरा जितना सकुचित है, विषमता उतनी ही तीव्र है। साम्य का उतना ही अभाव है। साम्य के अभाव के कारण ही जो 'मैं' हू, जो 'मेरा' है, उसके हित-सुख के लिए, उसकी सुरक्षा के लिए जो 'मैं' नही हू जो मेरा नही है, उसकी हानि की जाती

है। जबतक ऐसा है, तबतक जीवन पाप से ही भरा रहता है। जो 'मैं-मेरा' है, उनके लिए 'एक कण' भी जुटा सके तो जो 'मैं-मेरा' नहीं है, उनका 'एक मन' भी मिट्टी मे मिलाते हुए नही हिचकते। 'मैं-मेरे' के लिए किसी दुर्बल के मुह का कौर छीनते हुए नही झिझकते। 'मैं-मेरे' के अन्वेषन मे जघन्य से जघन्य पाप कर्म भी अनुचित नही लगता।

विषमता 'मैं-मेरे' की, 'अह-मम' भाव की जननी है। अह-मम-भाव विषमता का पोषक है। अह-मम-भाव के कारण ही हम तीव्र लोभ के वशीभूत होकर सग्रह-परिग्रह करते हैं और अनेको को अभावग्रस्त कर सामाजिक समता की हत्या करते हैं। तीव्र दम्भ के वशीभूत होकर ऊचे कुल, ऊचे वर्ण, ऊची जाति का नशा सिर पर चढाते है और समाज मे ऊच-नीच का भेद-भाव पैदा कर सामाजिक ममता की हत्या करते है। सत्ता के मद मे मदहोश होकर निर्बल और भोले लोगो का दमन और शोषण करते है और सामाजिक समता की हत्या करते हैं। इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे अपने अह का पोषण करते हुए, वैषम्य पैदा करते है, औरो के समान अधिकारो को कुचलते हुए निर्मम पैशाचिक व्यवहार करते हैं और अपने तथा अन्य सबो के दुख का कारण बनते हैं। यह सब समता के अभाव के कारण ही होता है। अपने-पराए का भेद मिटाकर साम्यभाव आवे तो ऐसी नृशसता कर ही न सकें। यदि मैं मिलावट की औषधि बेचने वाला लोभी व्यापारी हू तो अपने बीमार बेटे को वैसी औषधि कभी नही देता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी को भी मिलावट की औषधि नही दूगा। यदि मैं रिश्वतखोर शासक हू या शासनाधिकारी हू तो अपने बेटे से रिश्वत कभी नही लेता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी से भी रिश्वत नही लूगा। यदि उच्च वर्ण के मिथ्यादम्भ का शिकार हू तो अपने पुत्र को अछूत कहकर कभी नही दुत्कारता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी को भी अछूत कहकर नही दुत्कारूगा। अपने और पराए का भेद दूर होना ही वैषम्य का दूर होना है। सर्वमगलकारी साम्यभाव का प्रतिष्ठापित होना है।

जहा शुद्ध साम्यभाव प्रतिष्ठापित होता है, वहा स्व और पर की

सीमा टूटती है। परिणामत. शोषण मिटता है, सहकारिता आती है। क्रूरता मिटती है, मृदुता आती है, अन्याय मिटता है, न्याय आता है। सकीर्णता मिटती है, विशालता आती है। अहभाव-हीनभाव मिटता है, भ्रातृभाव आता है। अधर्म मिटता है, धर्म आता है।

एक ओर अपने मिथ्या स्वार्थों की सुरक्षा के लिए भयभीत और आतकित होकर किसी दुर्बल व्यक्ति को कोहनी मारकर नीचे गिराने और उसे पाव तले रौंदने की क्रूरता और दूसरी ओर योग-क्षेम से परिपूर्ण होकर निर्भय रहते हुए सबके हित-सुख मे ही अपना हित-सुख देखने की विशाल हृदयता, इन दोनो के बीच की सारी स्थितिया समता-धर्म के विकास की ही सीढिया हैं।

समता पुष्ट होती है तो सामजस्य आता है, समन्वय आता है, स्नेह सौहार्द आता है, सहिष्णुता आती है। सहयोग, सद्भाव, सहकारिता सहज-भाव से ही आ जाते हैं। इनके लिए प्रयत्न नही करना पडता। ये सब नही आ रहे है तो अवश्य कुछ कमी है। अभी जीवन मे सही विपश्यना, सही समता नही आयी है। समता की साधना के नाम पर कोई छलना, कोई माया या कोई धोखा आया होगा। दार्शनिक बुद्धि-विलास का एक और चमकीला लेप आया होगा। अवश्य ही अन्तर्मन अभी विषमता से भरा हुआ है। अपने आपको इसी कसौटी से कसकर जाचते रहना चाहिए।

सचमुच, समता पुष्ट होगी तो अपनी हानि करके भी औरो का हित-साधन ही होगा और यह सहजभाव से होगा। दिए की बत्ती स्वय जलती है पर बदले मे लोगो को प्रकाश ही देती है। धूपबत्ती स्वय जलती है, पर बदले मे सबको सुवास ही देती है। चन्दन की लकडी स्वय कटती है, पर बदले मे सबके लिए सुरभि ही बिखेरती है। फलवाला वृक्ष पत्थर की मार स्वय सहता है, पर बदले मे सबको फल ही देता है, और यह सब कुछ सहजभाव से होता है। समता सहज हो जाय, तो सबके मगल का स्रोत खुल जाय।

ऐसे सर्वमगलमय समता-धर्म मे स्थापित होने के लिए अभ्यास करें। ●

७/सरल चित्त

सरलता ही चित्त की विशुद्धि है। कुटिलता मलीनता है । मलीनता अनर्थकारिणी है, विशुद्धता सर्वार्थ-साधिनी। कुटिलता सर्व-हित-नाशिनी है, सरलता सर्व-हितकारिणी। न केवल अपने, बल्कि सबके हित-सुख साधन के लिए सरलता अपनाए, कुटिलता त्यागें।

नैसर्गिक स्वच्छ मन स्वभाव से ही सरल होता है । सरलता गयी तो समझो, स्वच्छता गयी। सरलता खोने के तीन प्रमुख कारण हैं, जिनसे हमे सावधान रहकर बचना चाहिए। कौन से तीन ? तृष्णा, अहमन्यता और दार्शनिक दृष्टिया। 'तण्हा-मान-दिट्ठि।' इन तीनो मे से किसी एक के प्रति मन मे जब जितनी आसक्ति उत्पन्न होती है, तब हम उतनी ही सरलता खो बैठते हैं, उतनी ही स्वच्छता गवा देते हैं, उतने मलीन हो जाते हैं, उतने सुख-शान्ति-विहीन हो जाते हैं, उतने दुःखी हो जाते हैं।

जब किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थिति के प्रति तृष्णा जागती है और आसक्ति बढती है, तब उसे प्राप्त करने के लिए अथवा प्राप्त हुई हो तो अधिकार मे रखने के लिए हम बुरे-से-बुरा तरीका अपनाने पर उतारू हो जाते हैं। चोरी, डकैती, झूठ-फरेब, छल-छद्म, प्रपच-प्रवचन, धोखा-धडी आदि सबकुछ अपनाते हैं। अपने पागलनपन मे मन की सारी सरलता खो देते हैं। साध्य हासिल करने की आतुरता मे साधनो की पवित्रता खो देते हैं। प्रिय के प्रति अनुरोध ही अप्रिय के प्रति विरोध उत्पन्न करता है। इससे हम इतने प्रमत्त हो उठते हैं कि तृष्णा-पूर्ति मे जो भी बाधक लगता है, उसे दूर करने के लिए, नष्ट करने के लिए, असीम क्रोध, रोष, द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य और दुर्भावनाओ का प्रजनन करने लगते हैं और परिणामस्वरूप अपनी सुख-शान्ति भग कर लेते हैं। मन की सरलता नष्ट कर लेते है।

इसी प्रकार जब 'मैं-मेरे' के प्रति आसक्ति बढती है तो उस मिथ्या कल्पित 'मैं-मेरे' की मिथ्या सुरक्षा और मिथ्या हित-सुख के लिए, जिन्हे 'मैं-मेरा' नही मानते, उनकी बड़ी-से-बडी हानि करने पर तुल जाते हैं। ऐसा कर वस्तुतः अपनी ही अधिक हानि करते है। अपने मन की सरलता

की हत्या करते है, अपनी आन्तरिक स्वच्छता खो बैठते हैं, अपनी सुख-शान्ति गवा बैठते है। औरो को ठगने के उपक्रम मे स्वय ही ठगे जाते है।

इसी प्रकार जब हमे दार्शनिक दृष्टि अथवा साम्प्रदायिक मान्यता के प्रति आसक्ति हो जाती है तो सकीर्णता के शिकार हो जाते हैं और मन की सहज सरलता खो बैठते हैं। मन जब पानी की तरह सहज-सरल-तरल होता है तो अपने आपको सच्चाई के पात्र के अनुकूल ढाल लेता है और अपनी सरलता भी नही गवाता। रास्ते मे अवरोध आता है तो कल-कल करता हुआ उसके बगल से निकल जाता है। कोई अवरोध उसे काटता है, दो टुकडे करता है, तो कटकर भी अवरोध के आगे बढता हुआ फिर जुड जाता है और वैसे-का-वैसा हो जाता है। जब कोई अवरोध दीवार की तरह सामने आकर गति अवरुद्ध कर देता है तो धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे ऊंचा उठता हुआ उस दीवार को लाघकर सहज-भाव से आगे बह निकलता है। परन्तु मन जब पत्थर की तरह कठोर हो जाता है तो चट्टानो से टकराकर चिनगारिया पैदा करता है, चूर-चूर होता है। जब हमारी दृष्टि दार्शनिक विश्वासो, अधमान्यताओ, कर्म-काण्डो और बाह्य आडम्बरो के प्रति आसक्त होकर रूढ हो जाती है तब पथरा जाती है। पथराई हुई दृष्टि निर्जीव हो जाती है, हमे अधा बनाती है और हमारे कल्याण का रास्ता बद करती है। साम्प्रदायिकता की दासता मे जकड़े रहने के कारण हम सत्य को अपने चश्मे से ही देखना चाहते हैं। उसे तोड़-मरोडकर अपनी मान्यता के अनुकूल बनाना चाहते हैं, उस पर अपना रंग-रोगन लगाकर उसकी सहज स्वाभाविकता, सहज सौन्दर्य नष्ट करते हैं। इस दुष्प्रयास मे अपने मन की सरलता नष्ट करते हैं। उसे कुटिलता से भरते हैं।

कुटिलता कठोर है, सरलता मृदुता। कुटिलता अभिमानता है, सरलता निरभिमानता। कुटिलता ग्रन्थि-बधन है, सरलता ग्रन्थि-विमोचन।

ग्रन्थि-बधन बडा दुखदायी है। सच्चा सुख तो ग्रन्थि-विमोचन मे ही है, विमुक्ति मे ही है। जब-जब सरलता खोकर कुटिलता अपनाते हैं, तब-तब अपना मानसिक सतुलन खो बैठते हैं। भीतर-ही-भीतर तनाव-

खिचाव शुरू हो जाता है, अनजाने मे गाठें बांधने लगते है। अन्तर्मन गाठ-गठीला हो उठता है। उसके साथ-साथ शरीर के रेशे-रेशे मूज की रस्सी की तरह् वल खा-खाकर अकड़ जाते हैं। इससे हम वेचैन, अशात व्याकुल ही रहते हैं। हमारी यह आन्तरिक व्याकुलता जव-तव चिड-चिड़ाहट और भुभलाहट के रूप मे वाहर प्रकट होती है और इस प्रकार हम अपनी वेचैनी औरो पर वरसाते हैं।

इसके विपरीत मन जव सहज-सरल रहता है तो मृदु-मधुर, सौम्य-स्वच्छ, शीतल-शात रहता है। शरीर भी हल्का-फुल्का और पुलक-रोमाच से भरा रहता है। परिणामतः हम प्रीति-प्रमोद और सुख-सौहार्द से भर उठते है। हमारा यह आन्तरिक प्रीति-सुख मैत्री और करुणा के रूप मे वाहर प्रकट होता है और इस प्रकार हम अपनी सुख-शान्ति औरो को वाटते हैं। आस-पास के सारे वायुमण्डल को प्रसन्नता से भरते हैं।

इसीलिए, आत्महित, परहित और सर्वहित के लिए, कुटिलता त्यागें, सरलता अपनावे।

कुटिलता मे महा अमगल समाया हुआ है, सरलता मे महामंगल। ●

८/धर्म-चक्र

हमारे भीतर जो प्रतिक्षण लोकचक्र चल रहा है, इससे छुटकारा पाने के लिए धर्मचक्र प्रवर्तित करना होगा। लोकचक्र हमारे समस्त दुखो का मूल है। धर्मचक्र सभी दुखो का निरोधक है।

लोकचक्र क्या है ? लोकचक्र मोह, मूढता है। लोकचक्र अज्ञान, अविवेक, अविद्या है, जिसके कारण हम निरतर राग और द्वेष की चक्की मे पिसते रहते हैं। हमारी छह इन्द्रिया—आख, नाक, कान, जिह्वा, शरीर की त्वचा और मन तथा इन इन्द्रियो के छह विषय—रूप, गध, शब्द, रस, स्पर्शव्य और कल्पनाए, इनका परस्पर सस्पर्श होता रहता है। नाक का गध से, कान का शब्द से, जिह्वा का रस से, काया का

किसी भी स्पर्शव्य पदार्थ से, मन का कल्पना से। सस्पर्श होते ही तत्क्षण हमारे चित्त मे कोई सवेदना जागती है। यदि वह हमे प्रिय लगी तो हम तत्सम्बन्धी विषय से चिपकाव यानी राग पैदा कर लेते हैं। यदि अप्रिय लगी तो दुराव यानी द्वेष पैदा कर लेते हैं। चाहे राग उत्पन्न हो अथवा द्वेष, दोनो ही हमारे मन मे तनाव-खिचाव और उत्तेजना पैदा करते हैं। इससे समता नष्ट होती है। विषमता आरम्भ होती है। दुख-सधि होती है। दुख आरम्भ होता है। यही लोकचक्र का आरम्भ हो जाना है।

नासमझी से हम जो उत्तेजना पैदा कर लेते हैं, वह गहरी आसक्तियो मे परिवर्तित होकर दूषित भव-चक्र के रूप मे बढती है और हमे व्याकुल, व्यथित बनाती और हमारा दुख-ससार बढाती है। इसी भवचक्र को काटने के लिए हमारे भीतर धर्मचक्र जागते रहना बहुत आवश्यक है। यदि धर्मचक्र जागना है तो विवेक, विद्या और होश जागता है। जैसे ही किसी इन्द्रिय और उसके विषय के सस्पर्श से चित्त मे कोई सवेदना पैदा हो, प्रिय या अप्रिय, सुखद या दुखद—वैसे ही पागलो की तरह उस विषय के प्रति राग-रजित और द्वेष-दूषित होने के बजाय उसके नश्वर-निस्सार स्वभाव को समझकर प्रज्ञा जागे, अनासक्तिभाव जागे। इसी से लोकचक्र का प्रवर्तन रुकता है। उसका विस्तार नही हो पाता। यही धर्म-चक्र-प्रवर्तन है। धर्मचक्र-प्रवर्तन का यह प्रत्यक्ष लाभ है। विपश्यना साधना के सतत् अभ्यास द्वारा अपने अन्तर्मन मे अनुभूत होने वाली प्रत्येक सवेदना को जानें और जानकर उसमे उलझें नही। तटस्थ बने रहे। यो धर्मचक्र प्रवर्तित रखें।

धर्मचक्र प्रवर्तित रखने मे हमारा मगल-कल्याण है। ●

९/धर्म धारण करें

धर्म धारण करने मे ही सच्चा कल्याण है।

धर्मचर्चा करनी कभी लाभप्रद हो सकती है, कभी लाभप्रद नही हो सकती और कभी हानिप्रद भी हो सकती है।

धर्मचिन्तन करना कभी लाभप्रद हो सकता है, कभी लाभप्रद नही हो सकता और कभी हानिप्रद हो भी सकता है।

परन्तु धर्म धारण करना तो सदैव लाभप्रद होता है।

धर्मचर्चा करके धर्म के बारे मे श्रुत-ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यह हमे प्रेरणा और मार्गदर्शन दे और फलतः हम धर्म धारण कर लें तो धर्म-चर्चा हमारे लाभ का कारण बनती है, परन्तु जब इससे हम केवल बुद्धि-विलास करके ही रह जाय तो धर्मचर्चा हमारे लिए लाभप्रद नही होती। जब यही श्रुत-ज्ञान हममे ज्ञानी होने का मिथ्या दम्भ पैदा कर दे तो धर्म-चर्चा हमारी हानि का कारण बन जाती है।

यही बात धर्म-चिंतन की है। धर्म का चिंतन-मनन बौद्धिक ज्ञान पैदा करके निरर्थक बुद्धि-विलास का कारण बनता है, अथवा थोथा दम्भ पैदा करके हानि का कारण बनता है। परन्तु जब यही चिन्तन-ज्ञान धर्म-धारण करने की प्रेरणा पैदा करे, मार्ग-दर्शन दे और फलत हम धर्म धारण कर लें तो कल्याण का कारण बन जाता है।

वास्तविक कल्याण तो धर्म धारण करने मे ही है, मिथ्या बुद्धि-विलास मे नही, मिथ्या दम्भ मे नही।

अत. साधको, आओ, धर्म धारण करें। धर्म धारण कर स्वयं शीलवान बनें। समाधिवान बनें। प्रज्ञावान बनें।

यही मगल मूल है। ●

२. विपश्यना

१/विपश्यना क्या ?

विपश्यना को समझें। भली-भाति समझे बिना सही माने मे विपश्यी नही बन पायगे।

विपश्यना क्या है ?

विपश्यना कोई जादू नही, जो हमारे सिर पर चढकर बोलने लगे। विपश्यना कोई सम्मोहिनी विद्या नही, जिससे हम किसी अन्य के द्वारा सम्मोहित होकर अपनी सुध-बुध खो बैठें। विपश्यना कोई मत्रविद्या नही, जो हमे साप-बिच्छू या भूत-प्रेत की तरह मत्राए रख सके। विपश्यना कोई अध-भक्ति या अध-भावावेश नही, जिसके भावोन्माद मे हम उन्मत्त बने रह सकें। विपश्यना कोई भजन, कीर्तन, सगीत या नृत्य नही, जिसमे भाव-विभोर होकर हम आत्म-विस्मृत बने रह सकें। विपश्यना कोई ऋद्धि या चमत्कार नही, जिसकी अलौकिकता से चमत्कृत होकर हम आश्चर्य-चकित बने रह सकें। विपश्यना शब्दो के इन्द्रजाल की कोई माया नहीं जिससे किसी के वाणी-विलास से हम अपना बुद्धि-विलास करते रह सकें, विपश्यना कोई दार्शनिक ऊहापोह नही, जिसके सहारे हम दिमागी कसरत करते रहने मे अपने आपको मशगूल रख सकें। विपश्यना तत्त्वचिंतको का कोई अखाड़ा नही, जहा हम वाद-विवादी, तर्क-वितर्की बनकर शब्दो के बाल की खाल खीचते हुए बौद्धिक खेल खेलने मे अपने आपको भरमाए रख सकें। विपश्यना कोई विशिष्ट वेश-भूषा नही, जिसे पहन

कर हम धर्मवान बन जाने का गुमान कर सकें। विपश्यना कोई रूढि या कर्मकाण्ड नही, जिसे पूरा करके हम धर्म के नाम पर आत्म-छलना करते रह सकें। विपश्यना कोई ग्रन्थ-पाठ नही, जिसका पारायण करके हम वैतरणी पार होने का स्वप्न ले सके। विपश्यना कोई प्रपत्ति नही, जिसके द्वारा किसी दृष्य-अदृष्य व्यक्ति के प्रति प्रपन्न होकर हम निश्चित हो सकें, अकर्मण्य बन सके। विपश्यना किसी काल्पनिक तारक देव-ब्रह्म अथवा किसी दम्भी धर्माचार्य का मिथ्या आश्वासन नही, जो हमारे लिए डूबते को तिनके का सहरा बन सके।

तो फिर विपश्यना क्या है ?

विपश्यना सत्य की उपासना है। सत्य मे जीने का अभ्यास है। सत्य यानी यथार्थ। यथार्थ इसी क्षण का होता है। भूतकाल की यादें होती है। भविष्यकाल की कामनाए—कल्पनाए। वास्तविकता इसी क्षण की होती है। अत: विपश्यना इसी क्षण मे जीने का अभ्यास है—यह क्षण, जिसमे भूत की कोई जल्पना अथवा भविष्य की कोई कल्पना नही। यादो की आकुल आहे अथवा स्वप्नो की व्याकुल चाहे नही। आवरण, माया, विपर्यास, भ्रम-भ्राति-विहीन इस क्षण का जो सत्य है, जैसा भी है, उसे ठीक वैसा ही, उसके सही स्वभाव मे, देखना-समझना, यही विपश्यना, है विपश्यना सम्यक् दर्शन है। विपश्यना सम्यक् ज्ञान है।

जो जैसा है, उसे ठीक वैसा ही देख-समझकर जो आचरण होगा, वही सही, कल्याणकारी, सम्यक् आचरण होगा। विपश्यना सम्यक् आचरण है।

विपश्यना पलायन नही है, जीवन-विमुखता नही है, प्रत्युत जीवन-अभिमुख होकर जीने की शैली है। विपश्यना खुली हवा मे ठोस धरती पर कदम रखकर चलने की कला है। विपश्यना बुद्धि-किलोल नही, प्रत्युत शुद्ध धर्म-शील को जीवन में उतारने की विधि है। विपश्यना आत्म और सर्व मगलमयी आचार-सहिता है। स्वय सुख से जीने तथा औरो को सुख से जीने देने की कल्याणकारिणी जीवन-पद्धति है। विपश्यना आत्म-मगल है, सर्व-मगल है। विपश्यना आत्मोदय है, सर्वोदय है।

विपश्यना आत्म-निर्भरता है। विना बैसाखियो के स्वय अपने पांव

पर खड़े होने की मगल विधा है। स्वावलवन की सर्वोत्कृष्ट साधना है। विपश्यना आत्म-दर्शन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्षण है। अपने अन्दर का कितना मैल उतरा ? कितना बाकी है ? कितनी निर्मलता आयी? कितनी बाकी है? कितने दुर्गुण दूर हुए? कितने बाकी हैं? कितने सद्गुण आए ? कितने बाकी हैं ? स्वय अपना लेखा-जोखा रखते रहने की जागरूकता विपश्यना है। स्वय तस्कर, स्वय रक्षक। स्वय रोगी, स्वय चिकित्सक। अज्ञान से ज्ञान, मैल से निर्मलता, रोग से आरोग्य, दुख से दुख-विमुक्ति की ओर बढते रहने का स्वप्रयास विपश्यना है। विपश्यना सही प्रयास है, सही प्रयत्न है। सम्यक् अभ्यास, सम्यक् व्यायाम है।

विपश्यना आत्म-सवर है—अपने मन पर मैल न चढने देने का सवर। विपश्यना आत्म निर्जरा है—अपने मन के पुराने मैल उतार फेंकने की निर्जरा। नया मैल कोई दूसरा नही, हम स्वय मोह-विमूढित होकर चढाते रहते हैं। अत स्वय ही प्रयत्नपूर्वक, सतत जागरूक रहकर नया मैल न चढने देना विपश्यना है। पुराना मैल किसी अन्य ने नही, प्रमादवश स्वय हमने चढाया है। इसे दूर करने की सारी जिम्मेदारी हमारी अपनी है, किसी अन्य की नही। अत अपना पुराना मैल स्वय उतारते रहना विपश्यना है। धीरज-पूर्वक प्रयत्न करते हुए थोडा-थोडा मैल उतारते रहेगे तो एक दिन पूर्ण निर्मलता प्राप्त हो ही जायगी। मन निर्मल होगा तो सद्गुणो से भर जायगा, दूषित मन पर आधारित सारे शारीरिक रोग, सारे दुख स्वत दूर हो जायगे। विपश्यना आरोग्य-वर्धिनी सजीवन औषधि है, चित्तशोधनी धर्म-गगा है, दुख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा है, मुक्तिदायिनी धर्मवीथी है।

विपश्यना शील, समाधि मे स्थित होकर अन्तर्प्रज्ञा जाग्रत करने का पावन अभ्यास है। शनै -शनै प्रज्ञा पुष्ट करने का सत्प्रयास है। स्थितप्रज्ञ होने का शुभायास है। प्रज्ञा यानी प्रत्येक प्रत्युत्पन्न स्थिति को प्रकार-प्रकार से जानना। विमोहिनी एकान्त दृष्टि त्यागकर सत्य-दर्शिनी अनेकात दृष्टि द्वारा यथार्थ का सर्वांगीण निरीक्षण करना, तटस्थ होकर उसके सही स्वभाव का साक्षात्कार करना—यही विपश्यना है। विपश्यना निसग दर्शन है, निर्लिप्त निरीक्षण है, नितात अनासक्ति है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति का सामना होते ही उसे ठीक-ठीक देखे-समझे बिना सहसा अंध प्रतिक्रिया करना दुष्प्रज्ञता है। यही मानसिक क्षोभ है, उत्तेजना है, विकृति है, असतुलन है, अशाति है; अतः दु ख है। परन्तु ऐसी हर अवस्था को विवेकपूर्वक देख-समझकर अपने मन की समता बनाए रखना प्रज्ञा है। आगत परिस्थिति का सतुलित चित्त से सामना करना धर्माचरण है, मगल आचरण है। यही विपश्यना है। उत्पन्न स्थिति को हथियाने या हटाने की हठात् चेष्टा करने से बचते हुए अपने आपको सतुलित रखना और तदनन्तर जो कुछ करणीय है, शातिपूर्वक वही करना, यही सम्यक् जीवन-व्यवहार है। यही विपश्यना है। पर को बलदने के प्रयत्न के पूर्व स्व को बदलना ही शुद्ध चित्त का व्यवहार-कौशल्य है। यह विपश्यना है। विपश्यना आत्म-सयम है, आत्म-सतुलन है, आत्म-समता है, आत्म-सामायिक है।

विपश्यना आत्म-शुद्धि है, आत्म-विमुक्ति है। विकार-विमुक्त शुद्ध चित्त मे मैत्री और करुणा का अजस्र झरना अनायास झरता रहता है। यही मानव-जीवन की चरम उपलब्धि है। यही विपश्यना-साधना की चरम परिणति है।

विपश्यना की सिद्धि कठिन अवश्य है, पर असभव नही। कष्ट-साध्य अवश्य है, पर असाध्य नही। विपश्यना स्व-प्रयत्न-साध्य है। केवल एक या एकाधिक विपश्यना-शिविरो मे सम्मिलित हो जाना ही सबकुछ नही है। यह तो जीवनभर का अभ्यास है। विपश्यना का जीवन जीते रहना होगा, सतत् सजग, सतत् सचेष्ट, सतत् सयत्न।

अतः अदम्य उत्साह के साथ विपश्यना के इस मगल-पथ पर आगे बढते चलें। गिरते-पड़ते और फिर खडे होकर, घुटनो को सहलाकर, कपडो को झाडकर आगे बढते चलें। हर फिसलन अगले कदम के लिए नई दृढता और हर ठोकर लक्ष्य तक पहुचने के लिए नई उमग और नयर उत्साह पैदा करने वाली हो। अतः रुकें नही, चलते जाय। कदम-कदम आगे बढते जाय। यही मगल विधान है। ●

२/विपश्यना क्यों ?

मन में मैत्री करुण रस, वाणी अमृत घोल ।
जन-जन के हित के लिए, धर्म-वचन ही बोल ।।

शाति और चैन किसे नही चाहिए, जबकि सारे ससार मे अशाति और बेचैनी छायी हुई नजर आती है ? शातिपूर्वक जीना आ जाय तो जीने की कला हाथ आ जाय । सच्चा धर्म सचमुच जीने की कला ही है, जिससे कि हम स्वय भी सुख और शातिपूर्वक जीए तथा औरो को भी सुख-शाति से जीने दें । शुद्ध धर्म यही सिखाता है, इसलिए सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वभौमिक होता है । सप्रदाय धर्म नही है । सम्प्रदाय को धर्म मानना प्रवचना है ।

समझें ! धर्म कैसे शाति देता है ?

पहले यह जान लें कि हम अशात और बेचैन क्यो हो जाते हैं ? गहराई से सोचने पर साफ मालूम होगा कि जब हमारा मन विकारो से विकृत हो उठता है तब वह अशात हो जाता है । चाहे क्रोध हो, लोभ हो, भय हो, ईर्ष्या हो या और कुछ । उस समय विक्षुब्ध होकर हम सतुलन खो बैठते हैं । क्या इलाज है, जिससे हममे क्रोध, ईर्ष्या, भय इत्यादि आएं ही नही और आए भी तो इनसे हम अशात न हो उठें ।

आखिर ये विकार क्यो आते हैं ? अधिकाशत. किसी अप्रिय घटना की प्रतिक्रिया-स्वरूप आते हैं । तो क्या यह सभव है कि दुनिया मे रहते हुए कोई अप्रिय घटना घटे ही नही ? कोई प्रतिकूल परिस्थिति पैदा ही न हो ? नही, यह किसी के लिए भी सभव नही । जीवन मे प्रिय-अप्रिय दोनो प्रकार की परिस्थितिया आती ही रहती हैं । प्रयास यही करना है कि विषम परिस्थिति पैदा होने के बावजूद हम अपने मन को शात और सतुलित रख सकें । रास्ते मे काटे-ककर रहेंगे ही । उपाय यही हो सकता है कि हम जूते पहन कर चलें । तेज वर्षा-धूप आयेगी ही, बचाव इसी मे है कि हम छाता तानकर चलें, यानी प्रतिकूल परिस्थितियो के बावजूद हम अपनी सुरक्षा स्वय करना सीखें ।

सुरक्षा इसी मे है कि कोई गाली दे, अपमान करे तो भी मैं क्षुब्ध न

होकर निर्विकार बना रहे। यहा एक बात यह विचारणीय है कि किसी व्यक्ति द्वारा अयोग्य व्यवहार करने पर यानी उसके दोष के कारण क्षोभ या विकार मुझे क्यो होता है ? इसका कारण मुझमे यानी मेरे अचेतन मन मे सचित अहकार, आसक्ति, राग, द्वेप, मोह आदि की गाठें हैं, जिन पर उक्त घटना के आघात लगने पर क्रोध, द्वेष आदि विकार चेतन मन पर उभरते हैं। इसलिए जिस व्यक्ति का अन्तर्मन परम शुद्ध है, उसे ऐसी घटनाओ से कोई विकार या अशाति नही हो पाती।

परन्तु प्रश्न यह है कि जबतक अन्तर्मन परम शुद्ध नही हो जाता, तबतक क्या किया जाय ? मन मे पूर्व सचित सस्कारो की गदगिया तो है ही और इन्ही के कारण किसी भी अप्रिय घटना का सपर्क होते ही नए विकारो का उभार आता ही है। ऐसी अवस्था मे क्या करे ?

एक उपाय तो यह है कि जब मन मे कोई विकार जागे तो उसे दूसरी ओर लगा दें, किसी अन्य चिंतन मे अथवा अन्य काम मे, यानी वस्तु-स्थिति से पलायन करें। परन्तु यह सही उपाय नही है। जिसे हमने दूसरी ओर लगाया वह तो ऊपर-ऊपर का चेतन मन है। अन्दर का अचेतन, अर्द्धचेतन मन तो उसी प्रकार क्षुब्ध होकर भीतर-ही-भीतर मूज की रस्सी की तरह अकडता और गाठें बाधता जाता है। भविष्य मे जब कभी ये गाठें उभरकर चेतन मन पर आवेंगी तब और अधिक अशाति और बेचैनी पैदा करेंगी। अत पलायन करना समस्या का सही समाधान नही है। रोग का सही इलाज नही है।

इसी समस्या के समाधान की खोज आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व इसी देश मे भगवान गौतम बुद्ध ने की और लोगो के कल्याण के लिए इसे सर्व-सुलभ बनाया। उन्होने अपनी अनुभूतियो के बल पर जाना कि ऐसे अवसर पर पलायन न करके वस्तुस्थिति का सामना करना चाहिए। किसी भी घटना के कारण जो भी विकार जागे, उसे यथावत् देखना चाहिए। क्रोध आया तो क्रोध जैसा है, उसे वैसा ही देखें। इससे क्रोध शात होने लगेगा। इसी प्रकार जो विकार जागे, उसे यथाभूत देखने लगें तो उसकी शक्ति क्षीण हो जायगी। परन्तु कठिनाई यह है कि जिस समय विकार जागता है, उस समय हमे होश नही रहता। क्रोध आने पर यह नही

जानते हैं कि क्रोध आया है। क्रोध निकल जाने के बाद होश आता है। तब सोचते हैं कि बडी भूल हुई, जो क्रोध मे आकर किसी को गाली दी या मार-पीट पर उतारू हो गये। इस बात को लेकर पश्चात्ताप करते है, परन्तु दूसरी बार वैसी परिस्थिति आने पर फिर वैसा ही करते है।

वस्तुत. क्रोध आने पर तो हमे होश रह नही पाता। बाद मे होश आने पर पश्चात्ताप करने से लाभ नही होता। चोर आए तब तो सोए रहे, परन्तु उसके द्वारा घर का माल चुरा ले जाने के बाद जल्दी-जल्दी ताले लगाये तो इससे क्या लाभ ? निकल भागने के बाद उस साप की लकीर पीटते रहे तो क्या लाभ ? विकार जागने पर होश कौन दिलाए ? क्या हर आदमी अपने साथ सचेतक के रूप मे कोई सहायक रखे ? यह सभव नही है, और मान लीजिए कि समव हुआ भी, किसी ने अपने लिए कोई सहायक नियुक्त कर भी लिया और ऐन मौके पर उस सहायक ने सचेत भी कर दिया कि आपको क्रोध आ रहा है, आप क्रोध को देखिए, तो दूसरी कठिनाई यह है कि अमूर्त क्रोध को कोई कैसे देखे ? जब क्रोध को देखने का प्रयास करते हैं तब जिसके कारण क्रोध आया है, वही आलबन बार-बार मन में उभरता है और आग मे घी का काम करता है। वही तो उद्दीपन है। उसी के चिंतन से विकार से छुटकारा कैसे होगा ? बल्कि उसे बढावा मिलेगा। तो एक और बडी समस्या यह है कि आलबन से छुटकारा पाकर अमूर्त विकार को साक्षीभाव से कैसे देखा जाय ?

अत: हमारे सामने दो समस्याए हैं। एक तो यह कि विकार के जागते ही हम सचेत कैसे हो ? और दूसरी यह कि सचेत हो जाय तो अमूर्त विकार का साक्षीभाव मे निरीक्षण कैसे कर सकें ? उस महापुरुष ने प्रकृति की सच्चाइयो की गहराई तक खोज करके यह देखा कि किसी भी कारण से जब कभी मन मे कोई विकार जागता है तब एक तो सास की गति मे अस्वाभाविकता आ जाती है और दूसरे शरीर के अग-प्रत्यग मे सूक्ष्म स्तर पर किसी-न-किसी प्रकार की जीव-रासायनिक क्रिया होने लगती है। यदि इन दोनो को देखने का अभ्यास किया जाय तो परोक्ष रूप से अपने मन के विकार को देखने का काम ही होने लगता है और विकार स्वत. क्षीण होते-होते निर्मूल होने लगता है। सास को देखने

का अभ्यासआना 'पान सति' कहलाता है और शरीर मे होने वाली जीव-रासायनिक प्रतिक्रियाओ को साक्षीभाव से देखने का अभ्यास, विपश्यना कहलाता है।

दोनो एक-दूसरे से गहरे सबधित हैं। इन दोनो का बहुत अच्छा अभ्यास हो जाय तो किसी भी कारण जब मन मे विकार उठे तो पहला काम यह होगा कि सास की बदली हुई गति और शरीर मे उत्पन्न हुई किसी भी प्रकार की जीव-रासायनिक प्रतिक्रिया हमे सचेत करेगी कि चित्त-धारा मे कोई विकार जाग रहा है। सास और इस सूक्ष्म संवेदना को देखने लगे तो स्वभावत. उस समय के उठे हुए विकार का उपशमन, उन्मूलन होने लगेगा। जिस समय हम अपने सास के लेने और छोडने को साक्षीभाव से देखते हैं अथवा शरीर की जीव-रासायनिक या विद्युत-चुबकीय प्रतिक्रिया को साक्षीभाव से देखते है, उस समय विकार उत्पन्न करने वाले आलबन से सहज ही संपर्क टूट जाता है।

ऐसा होना वस्तुस्थिति से पलायन नही है, क्योकि अन्तर्मन तक उस विकार ने जो हलचल पैदा कर दी, उस सच्चाई को अभिमुख होकर देख रहे हैं। सतत् अभ्यास द्वारा अपने आपको देखने की यह कला जितनी पुष्ट होती है, उतनी ही स्वभाव का अग बनती है और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आती है कि विकार जागते ही नही अथवा जागते हैं तो बहुत दीर्घ समय तक चल नही पाते या चलते भी हैं तो पत्थर की लकीर की तरह के सस्कार गहरे अकित नही हो पाते, बल्कि पानी या बालू पर पडी लकीर जैसा हल्का-सा सस्कार बनता है, जिससे शीघ्र छुटकारा मिल जाता है। सस्कार जितना गहरा होता है, उतना ही अधिक दुखदायी और बधनकारक होता है। जितनी शक्ति से और जितनी देर तक किसी विकार की प्रक्रिया चलती है, अन्तर्मन पर उसकी उतनी ही गहरी लकीर पडती है।

अतः काम की बात यह है कि विकार जागते ही उसको साक्षीभाव से देखकर उसकी शक्ति-क्षीण कर दी जाय ताकि वह अधिक लबे अर्से तक चलकर गहराई मे न उतर सके। आग लगते ही उस पर पानी छिडकें। कही ऐसा न हो कि पेट्रोल छिडककर उस आग को बढावा दे

दें। जगे हुए विकार को सचेत होकर तत्क्षण देखने लग जाना उस विकार की आग पर पानी छिड़कना है और जिस आलंबन को लेकर विकार जागा, बार-बार उसका चिंतन करना, उस पर पेट्रोल छिड़कना है। अपने अपमान की अप्रिय घटना को याद करते रहे तो द्वेष की लकीर को याद करके अधिक गहरी बना लेते हैं। उससे बाहर निकलना दूभर हो जाता है।

प्रकृति के कानून को 'ऋत' कहते हैं। हम उसे ही 'धर्म' कहते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि जब हमारे मन मे कोई विकार जागता है, तब हम अशात हो जाते हैं और विकार से छुटकारा पाते ही अशाति से छुटकारा पा लेते हैं। सुख-शान्ति भोगने लगते हैं। प्रकृति के इस नियम को जानकर विकारो से छुटकारा पाने का कोई तरीका कोई महापुरुष धर्म के रूप मे दुखियारे लोगो को देता है, परन्तु अपने पागलपन से उन तरीको को अपनाने के बजाय यानी धर्म को धारण करने के बजाय हम उसे वाद-विवाद का विषय बनाकर सिद्धान्तो की लडाई मे पड जाते हैं और कोरे दार्शनिक बुद्धि-विलास से पारस्परिक विद्रोह बढाकर अपनी हानि करते हैं। विपश्यना दार्शनिक सिद्धान्तो का सघर्ष नही है। हर व्यक्ति ज्ञान-चक्षु द्वारा अपने आपको देखे, स्व का निरीक्षण करे, अपने भीतर जब विकारो की आग लगे तब उसे स्वय देखकर बुझाए।

यही सम्यक्‌दर्शन है। यही 'स्व' का निरीक्षण है। ज्ञान-चक्षु से निरीक्षण है। अनुभूतियो के स्तर पर सत्य निरीक्षण है। जागरूक रहकर यथावत् सत्य को देखने का अभ्यास विपश्यना है। इसको बुद्धि-विलास का विषय बनाने से कोई लाभ नही। पढने-सुनने या चर्चा-परिचर्चा से बौद्धिक स्तर पर विषय समझ लिया जा सकता है। उससे कुछ प्रेरणा भी मिल सकती है, परन्तु वास्तविक लाभ अभ्यास करने मे है। अपने मन को विकारो से विकृत न होने दें, सदा सचेत रहकर स्व का निरीक्षण करते रहें, यह काम बिना अभ्यास के सभव नही है। जन्म-जन्मातरो से मन पर सस्कारो, विकारो की जो परतें पडी और नए-नए विकार बनाते रहने का जो स्वभाव बन गया, उससे छुटकारा पाने के लिए साधना का अभ्यास नितात आवश्यक है। उसे केवल सैद्धान्तिक स्तर पर जान लेना पर्याप्त

नही है और न केवल दस दिनो का एक शिविर ही काफी है। सतत अभ्यास की आवश्यकता है।

मात्र दस दिन के अभ्यास से कोई व्यक्ति पारगत नही हो सकता। दस दिन मे तो भविष्य मे अभ्यास करने की एक विधि हाथ लगती है। अभ्यास पूरे जीवन तक का है। जितना अभ्यास बढता है, उतना धर्म जीवन मे उतरता है। जीवन जीने की कला पुष्ट होती है। आत्म-सजगता बढती है तो आचरण सुधरते हैं, चित्त निर्मल, निर्विकार होता है। निर्मल-निर्विकार चित्त मैत्री, करुणा, मुदिता और समता के सद्गुणो से स्वभावत. भरता है। साधक स्वय तो कृतकृत्य होता ही है, समाज के लिए भी सुख-शाति का कारण बनता है।

सौभाग्य से यह आत्म-निरीक्षण यानी स्व-निरीक्षण का अभ्यास, विपश्यना की साधना-विधि ब्रह्मदेश मे दो हजार पच्चीस सौ वर्ष से आज-तक अपने शुद्ध रूप मे जीवित है। मुझे सौभाग्य से इस विधि को वही सीखने का कल्याणकारी अवसर प्राप्त हुआ। शारीरिक रोग के साथ-साथ मानसिक विकारो और आसक्ति-भरे तनावो से छुटकारा पाने का रास्ता मिला। सचमुच एक नया जीवन ही मिला। धर्म का मर्म जीवन मे उतार सकने की एक मगल विधा प्राप्त हुई। अब भारत मे हू। यह विधि तो इसी देश की पुरातन निधि है। पवित्र सम्पदा है। किसी भी कारण से यहा विलुप्त हो गई। मैं तो भागीरथ की तरह इस खोई हुई धर्म-गगा को ब्रह्मदेश से यहा, इस देश मे, पुन: ले आया हू और इसे अपना बडा सौभाग्य मानता हू।

याद करता हू कि विकारो से विकृत होकर मैं कितना दुखी रहा करता था और इन विकारो से छुटकारा पाकर कितना दुख-मुक्त हुआ, सुखलाभी हुआ। इसलिए जी चाहता है कि अधिक-से-अधिक लोग, जो अपने विकारो से विकृत है और इसलिए दुखी है, वे इस कल्याणकारी विधि द्वारा विकारो से छुटकारा पाना सीखें और दुख-मुक्त होकर सुख-लाभी हो। याद करता हू कि जब मैं विकारो से विकृत होकर दुखी होता था तो अपना दुख अपने तक सीमित न रखकर औरो को बाटता था। औरो को भी दुखी बनाता था। उस समय मेरे पास बाटने के लिए

दुख ही था। अब जी चाहता है कि इस कल्याणकारी विधि द्वारा जितना-जितना विकारो से मुक्त हुआ और फलत जो भी यत्किचित सुख-शाति मिली, उसे लोगो मे बाटू। इसे बाटने पर सुख-सवर्धन होता है। मन प्रसन्न होता है। इन दस दिन के शिविरो मे लोग अक्सर मुरझाए हुए चेहरे लेकर आते है और शिविर समाप्ति पर खिले हुए चेहरो से घर लौटते हैं तो सचमुच मन सुख-सतोष से भर उठता है। अधिक-से-अधिक लोग इस मगलकारी विधि का लाभ उठाकर सुखलाभी हो, अधिक-से-अधिक लोगो का भला हो, कल्याण हो, मगल हो, यही धर्म-कामना है। ●

३. साधना के दस दिन : प्रवचन-प्रवाह

पहला दिन

आज हमारी साधना का पहला दिन पूरा हुआ। पहला दिन थोड़ा कठिनाइयो का होता है एक छोटा-सा कारण, शिविर की व्यवस्था से सबधित है। नए-नए साधको को शिविर की व्यवस्था मे कई असुविधाए अनुभव होती हैं, केवल रहन-सहन की ही नही, शरीर ने भी अपना स्वभाव बना लिया है, मन ने भी। अपने स्वभाव के बाहर निकलना न शरीर को पसद है, न मन को। शरीर और मन दोनो विद्रोह करने लगते हैं।

मन मे कई शकाए पैदा होती हैं। कोई साधक किसी अमुक साधना या ध्यान का अभ्यासी है तो मन मे विचार आता है कि यहा मैं क्या कर रहा हूं ? कही कोई धर्म-विरोधी कार्य तो नही कर रहा ? इत्यादि।

प्रत्येक साधक को यह खूब समझ लेना चाहिए कि इस साधना मे कही भी अध-विश्वास या कल्पना को स्थान नही है। सारा-का-सारा बोधि का मार्ग है, सत्य का मार्ग है, ज्ञान का मार्ग है, स्वय तपने का मार्ग है, पुरुषार्थ का मार्ग है।

परन्तु हर शाम को धर्म-चर्चा होगी—साधना-मार्ग का स्पष्टीकरण करने तथा साधना-विधि को समझाने के लिए। पहले तो हम यह समझेंगे

कि इस साधना का लक्ष्य क्या है ? साधना का लक्ष्य चित्त को पूर्ण रूप से निर्मल करना है, शुद्ध करना है। इसका पहला कदम चित्त को एकाग्र करना है। लक्ष्य की ओर जाने की यह पहली सीढ़ी है। इस साधना के द्वारा हम सुख तथा शातिपूर्वक जीवन जीने की कला सीखेंगे।

हम अनुभव करते है कि हमारें जीवन मे कितना तनाव है, खिचाव है, बेचैनी है, अशाति है, व्याकुलता है। हमारे पास सब साधन हो, सम्पत्ति हो, तो भी हम दुखी रहते है। इनका अभाव है तो दुखी हैं ही। मनका यह रोग सार्वजनीन है, सार्वकालिक है, सार्वदेशिक है।

यदि हम मन के इस रोग का कारण जान लें तो इसे दूर अवश्य कर सकेंगे। रोग का कारण मन के विकार हैं। यदि हमारा मन इन विकारो से मुक्त हो जाय, शुद्ध हो जाय, निर्मल हो जाय तो हम दुख से, अशाति से, बेचैनी से अपने आप दूर हो जायगे। चित्त के निर्मल होने पर किसी के प्रति ईर्ष्या या द्वेष नही जागेगा। निर्मल चित्त प्यार से, करुणा से, मुदिता से, समता से भर-भर उठेगा। हमारा मन सदा सतुलित रहेगा। यही कल्याण का मार्ग है।

(१) इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हमने सास को देखना शुरू किया। किस प्रकार हमारा सास आ रहा है, जा रहा है। केवल यही देखना शुरू किया। इसके साथ किसी नाम, मत्र या रूप को नही जोडा। इस साधना का संबध किसी सप्रदाय या मान्यता से नही है। यदि हम किसी नाम, मत्र या रूप को जोड़ देते तो उससे संबधित सप्रदाय से बध जाते। तब यह अभ्यास सबके लिए ग्राह्य तथा स्वीकार करने योग्य नही होता। सार्वजनीन रोग के लिए सार्वजनीन इलाज की ही आवश्यकता है। हमने इसीलिए शुद्ध सास का सहारा लिया।

(२) एक और बडा कारण है। हमारे सांस का हमारे विकारो से गहरा सबध है। जब-जब मन मे क्रोध जागे, भय जागे, वासना जागे, हमारे सांस की गति तेज हो जायेगी। जैसे ही विकार दूर हो जायेगा, सांस फिर अपने आप धीमा और अपनी साधारण गति से चलने लगेगा। सास को देखते-देखते हम अपने विकारो को देख सकेंगे। ज्योही हमने विकारो

को देखना शुरू किया, चित्त की सफाई का काम शुरू हो गया। विकारों को जानने के लिए सास का माध्यम अत्यत महत्व का है। इसके साथ यदि हम किसी नाम, मत्र या रूप को जोड देते तो सास अपनी जगह रह जाता और मन उस शब्द की गूज मे, उसका बार-बार उच्चारण करने मे या उस रूप की कल्पना मे डूब जाता। मन एकाग्र तो हो जाता, शाति भी मिलती, लेकिन हम अपने विकारो तक नही पहुच पाते। यदि हमे अपने विकारो को देखना है, मन की अन्तरतम गहराइयो तक पहुचना है, जहा हमारे विकार एकत्र हैं, सग्रहीत हैं, तो हमे बीच मे कोई दीवार नही खडी करनी है। विकारो से सीधा सम्पर्क आवश्यक है। इसीलिए हमने शुद्ध सास का सहारा लिया, ताकि विकारो को दूर कर सके।

मनुष्य ने जबसे जन्म लिया है, आख खोलकर बाहरी दुनिया को ही देखा है। सदैव बहिर्मुखी-ही-बहिर्मुखी। कभी अन्तर्मुखी होकर अपने को देखा ही नही। यह सारा शरीर-प्रपच जिसे, 'मैं-मैं', 'मेरा-मेरा' कहे जा रहा हू, यह सारा मानसिक प्रपच, जिसे 'मैं-मैं', 'मेरा-मेरा' कहे जा रहा हू—यह सब क्या है? अपने शरीर के बारे मे, मन के बारे मे बौद्धिक स्तर पर खूब जानकारी होगी। लेकिन अनुभूतियो के स्तर पर कुछ भी ज्ञान नही है। अनुभूतियो के द्वारा यह भी नही जाना कि शरीर और चित्त के परे भी कोई अवस्था है।

सत्य की खोज मे निकलने वाला साधक किसी कल्पना को स्थान नही देगा। यह जो हमने सास का सहारा लिया और इसके साथ किसी कल्पना को जोडने नही दिया, इसका मुख्य कारण यही है कि हम सच्चाई को जान रहे हैं—'मैं सास ले रहा हू।' भले ही यह एक मोटा सत्य है, पर है सत्य। कोई कल्पना नही।

हम अपने शरीर और मन के प्रपच को देखेंगे। खूब देखेंगे। हमारे विभिन्न बाहरी अग—हाथ, पैर आख आदि हमारी इच्छा के अनुसार काम करते हैं, लेकिन शरीर के भीतर के जो अंग हैं—फेफडे, हृदय आदि हमारे आदेश का इतजार नही करते। निरन्तर प्रकृति के नियम के अनुसार काम करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त हमारा सारा शरीर

जो नन्हें-नन्हें परमाणुओ से, जीव-कोषो से बना है, उनमे कुछ-न-कुछ खटपट होती ही रहती है। समग्र शरीर-पिंड मे कुछ-न-कुछ जीव-रासायनिक प्रतिक्रिया, विद्युत् चुम्बकीय प्रतिक्रिया, निरन्तर होती रहती है। वह सच्चाई अनुभूति से जानेंगे।

शरीर के बारे मे सुना है, शास्त्रो मे पढा है कि यह नश्वर है, भगुर है। मन के बारे मे भी सुना है कि यह चचल है, चपल है। लेकिन अनुभूति के स्तर पर यह बात नही जानी। इसीलिए शरीर और मन के प्रति बडी आसक्ति है। यह आसक्ति केवल बौद्धिक-स्तर की जानकारी से टूटने वाली नही है। इसलिए हमारे यहा सत्य के साक्षात्कार को इतना महत्व दिया गया। सत्य को ही ईश्वर माना गया।

सत्य का साक्षात्कार स्थूल से ही आरम्भ होता है और सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर-से-सूक्ष्मतम होता हुआ परम सत्य तक पहुच जाता है। यदि हमे परम सत्य का साक्षात्कार करना है, जो अवस्था इद्रियातीत है, भावातीत है, लोकातीत है, वहा तक पहुचना है, तो हमे इद्रिय जगत् के क्षेत्र की स्वय यात्रा करके अनुभूतियो के क्षेत्र से गुजरना ही पडेगा।

आज दिन भर अभ्यास करते-करते एक बात बडी स्पष्ट हो गई। मन की चचलता के बारे मे खूब सुना था, पढा था। अब अनुभव हो गया कि मन एक क्षण भी नही टिकता। मन की चचलता के साथ एक और बात स्पष्ट हुई कि या तो यह भूतकाल की याद मे भागता है अथवा भविष्य की कल्पना की ओर। एक क्षण भी वर्तमान मे नही रहना चाहता। मन की इस प्रकार की गति इसका स्वभाव बन गई है। जीवन भर हम या तो भूतकाल की सुखद या दुखद स्मृतियो मे अथवा भविष्य की सुखद या दुखद कल्पनाओ मे खोये रहते हैं। इसी से असतुष्ट, असतुलित और बेचैन रहते हैं।

साधना के अभ्यास द्वारा आरम्भ हुआ वर्तमान मे जीने का कार्य। मन को सिखाने लगे कि देख इस सास को—"जो आ रहा है या जा रहा है।" यह इस क्षण की घटना, इस क्षण की सच्चाई है। मन को

सिखाने लगे कि भूतकाल की स्मृतियो और भविष्य की आकाक्षाओ से छूटकर वर्तमान मे रहना सीखे। ज्योही वर्तमान मे रहना आने लगेगा, बहुत-से रहस्य सामने आयगे। जैसे-जैसे हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलेंगे, ज्ञात से अज्ञात को भी जानने लगेंगे। इस प्रयत्न मे सास एक कडी का काम करेगा, एक पुल का काम करेगा।

मन के बारे मे एक बात और सामने आई कि मन कभी एक बात पर नही टिकता। कभी एक बात तो कभी दूसरी बात, सो भी ऐसी बातें जिनका कोई तारतम्य नही, तालमेल ही नही ! केवल उलझन-ही-उलझन है, मानो होश ही नही है।

इस प्रकार मन का एक और रहस्य स्पष्ट होने लगा। जब कभी मन सुखद स्मृति की कल्पना मे डूबा रहता है तो बडी चाह रहती है कि वह स्मृति कायम रहे, वह स्थिति पुनः प्राप्त हो। इसी प्रकार दुखद कल्पना और दुखद स्थिति को हमेशा टालने की चाह रहती हैं। ये राग, द्वेष और मोह-मूढता (बेहोशी) की स्थितिया बनी ही रहती है। कहा शाति है ? कहा सुख है जीवन मे ? हमारे मन के सारे-के-सारे विकारो की जननी ये तीनो अवस्थाए हैं—राग, द्वेष और मोह की।

यह सारा अभ्यास हमे चित्त की निर्मलता की ओर ले जाने वाला है। इसमे पहला कदम चित्त को एकाग्र करने का है। यह कदम भी थोड़ा-बहुत मैल उतारने वाला होना ही चाहिए।

कैसे ? हम केवल सास को देख रहे हैं, जान रहे हैं, तो हमारा सबध भूतकाल की स्मृतियो और भविष्य की कल्पनाओ से टूट रहा है। एक तरह से राग और द्वेष से टूट रहा है। यथाभूत सास को देखने मे कहा राग पैदा होगा ? कहा द्वेष पैदा होगा ? जो सास अपने स्वभाव से चल रहा है उसे शाति से, दृढता से, देख रहे हैं। उस क्षण हम मोह से भी दूर हैं, क्योकि किसी कल्पना मे नही उलझ रहे। दिन भर के अभ्यास मे कुछ क्षण ऐसे आते ही हैं जब हम केवल सास को देख रहे हैं। ये क्षण बडे महत्व के हैं। उस क्षण का चित्त निर्मल हुआ।

इसी प्रकार एक और रहस्य प्रकट होता है। जब हमारे अतर-

तम मे सग्रहीत विकार-समूह से निर्मल चित्त का सपर्क होता है तो वड़ी तीव्र प्रतिक्रिया होती है। एक तूफान-सा उठता है, ज्वालामुखी-सा फूटता है। मन और शरीर का गहरा सबध है। अत. यह प्रतिक्रिया शरीर मे प्रकट होती है। किसी का पाव टूटने लगता है तो किसी की कमर फटने लगती है। किसी का सिर चकराता है तो किसी का जी घबराता है। किसी का भाग जाने का मन करता है तो किसी को नीद ही आने लगती है। यह सब क्यो होता है ? हमारा अभ्यास चित्त को अपने स्वभाव से पलटने का प्रयास है। यह प्रतिक्रिया इस प्रयास के विरुद्ध होती है। इन पीड़ाओ का बडा कारण मन की विपरीत प्रतिक्रिया का शरीर पर प्रकटीकरण है। जैसे-जैसे हम अपने अभ्यास मे पुष्ट होते जायगे, ये प्रतिक्रियाए कम होने लगेंगी। धीरे-धीरे हमने अपने मन मे जो विकार इकट्ठे कर रखे हैं, उनका शमन होने लगेगा। उन्हे धोते चले जायगे, साफ करते चले जायगे। यदि हम दृढता के साथ साधना में लगे रहेगे तो इन प्रतिक्रियाओ को जड से उखाड़ देंगे। चित्त स्वभाव से निर्मल हो जायगा। हमे जीना आ जायगा। सुख से जियेंगे, शाति से जियेंग। हम अपने भीतर शाति का अनुभव करेंगे और जिन लोगो के साथ हमारा सपर्क होगा, उन्हे भी शात और सुखी करेंगे।

इस अभ्यास मे हमारे सामने कुछ कठिनाइया आती हैं, उनसे सजग रहेंगे।

दस दिन तक इस साधना का अभ्यास करते हुए किसी अन्य साधना या अभ्यास को इसके साथ नही जोड़ेंगे। ऐसा होने पर बडी हानि होने की आशका है। भोजन मे सयम रखना भी अत्यत आवश्यक है। जितना भोजन एक बार मे हम करने के अभ्यस्त हैं, यहा उससे भी कम भोजन करेंगे। इससे साधना अच्छी हो पायगी। इसी प्रकार प्रमाद से दूर रहेंगे। शारीरिक थकान को कम करने के लिए भले हम एक बार में पाच मिनट लेटकर भी अभ्यास कर लें, लेकिन ऐसे न लेटें कि नीद ही आने लगे। एक अन्य कठिनाई, खासकर हम भारतीय साधको की है। हमे बात करने का वड़ा शौक है। मौन व्रत रखते हुए भी बात करने

की बडी चाह रहती है। साधना की सफलता के लिए मौन, पूर्ण मौन, आर्य मौन, रखना नितांत आवश्यक है।

साधना प्रारभ करने के पहले पचशील पालन करने का व्रत लिया। यह कोई कर्मकाड पूरा करने के लिए नही है। इस व्रत का कड़ाई से पालन करना है। ये शील हमारी साधना की आधार-शिलाए है। हमे शील को पुष्ट करना है। शील का दृढता तथा निष्ठा से पालन हमें सम्यक् एकाग्रता यानी सम्यक् समाधि प्राप्त करने और प्रज्ञा को जगाने मे सहायक होगा। इससे चित्त के विकार निकलने शुरू होगे और निर्मलता आने लगेगी। ●

आओ लोगो जगत के, चले धरम के पथ ।
इस पथ चलते ज्ञानिजन, इस पथ चलते सत ॥

धरम पथ ही शान्ति पथ, धरम पथ सुख पथ ।
धरम पथ पर जो चले, मगल जगे अनत ॥

आओ मानव मानवी, चले धरम के पथ।
कदम-कदम चलते हुए, करें दुखो का अन्त ॥

आते-जाते सास का, रहे निरन्तर ध्यान।
मन सुधरे मगल सधे, होय परम कल्याण ॥

धरम-धरम तो सब कहे, धरम न समझे कोय।
निरमल मन का आचरण, सत्य धरम है सोय ॥

धरम न हिन्दू बौद्ध है, सिक्ख न मुसलिम जैन।
धरम चित्त की शुद्धता, धरम शान्ति सुख चैन ॥

दूसरा दिन

हमारी साधना का दूसरा दिन पूरा हुआ। कठिनाइयो की दृष्टि से दूसरा दिन पहले दिन से जरा अच्छा, लेकिन कठिनाइया तो हैं ही। इनका सामना करना होगा। साधना की सफलता के लिए दो बातो को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। एक तो यह कि जैसे बताया जाय, ठीक वैसे ही काम करें। अपनी ओर से न कुछ जोड़ें, न तोड़ें। दूसरे, खूब धीरज से काम करें—उतावलेपन से नही, व्यग्र होकर नही, उत्कठित होकर नही। मन का स्वभाव बहुत चचल हो गया है। जब यह मालूम हो जाय कि मन भाग गया है, भटक गया है तो इसकी वजह से व्यग्र न हो, निराश न हो। इस सच्चाई को मुस्करा कर स्वीकार करें। मन तुरन्त वापस लौट आयेगा। मन को वापस लाने मे तनाव नही पैदा करना है। केवल जानना है। इस क्षण की सच्चाई को जानते रहना है। बस, यही पर्याप्त है। बराबर काम मे लगे रहे। प्रमाद न हो।

यदि धीरज से काम करते रहेगे तो लक्ष्य तक पहुच ही जायगे। अपने लक्ष्य तक पहुचने के लिए स्वय प्रयत्न करना है, परिश्रम करना है। स्वयं पुरुषार्थ करना है, पराक्रम करना है।

आज हम मोटे तौर पर यह समझ लें कि जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह रास्ता क्या है ? भगवान बुद्ध के जीवनकाल की एक घटना है। एक बुढियामाई भगवान बुद्ध के पास आयी। उसने पूछा, "महाराज ! मुझे धर्म-मार्ग ऐसी सरल भाषा मे समझाए, जिसे मैं समझू और उस पर चल सकू।" भगवान ने उस समय की जन भाषा मे समझाया :

"सब्ब पापस्स अकरण, कुसलस्स उप सम्पदा।
सचित्तपरियोदपन, एत बुद्धानसासन॥"

"सभी प्रकार के पापो को न करना, कुशल कर्मों का सपादन करना, अपने चित्त को निर्मल करना—यही समस्त बुद्धो की शिक्षा है।"

पाप कर्म क्या होते हैं? और कुशल कर्म क्या होते हैं? अपनी वाणी या शरीर से दूसरे प्राणियो की हानि करना ही पाप है। जिस कर्म से दूसरो को सुख पहुचता हो, शाति मिलती हो, उनका मगल होता हो, वही पुण्य है, वही कुशल कर्म है। जो कर्म दूसरो को हानि पहुचाए, उससे बचें और जो दूसरो को लाभ पहुचाए, वही करें। औरो को हानि पहुचाने वाला कर्म स्वय की भी हानि करता है। औरो को लाभ पहुचाने वाला कर्म स्वय को भी लाभ पहुचाता है। यह कुदरत का नियम है, विश्व का विधान है। जैसा बीज बोयेंगे, वैसा ही फल आयेगा। प्रकृति के इस कानून को समझकर इसके अनुसार चलना ही धर्म है।

भगवान बुद्ध ने तीसरी बात चित्त को निर्मल करने की कही। ज्यो-ज्यो चित्त निर्मल होता जायगा, अपने आप दुष्कर्म नही होगे। चित्त मैला होता है, तभी वाणी और शरीर से दुष्कर्म होते हैं। जब चित्त निर्मल हो जायगा, तो अनत करुणा, मैत्री, मुदिता और अनन्त समता से भर जायगा। निर्मल-चित्त व्यक्ति किसी को हानि नही पहुचा सकता। वह तो कल्याण ही करेगा।

चित्त की इस अवस्था तक पहुचने के लिए धर्म के मार्ग पर एक-एक कदम चलते हुए अभ्यास स्वय करना होगा। इस मार्ग को जरा विवरण के साथ समझें। उन दिनो की भाषा मे इस धर्म-मार्ग को, मगल-मार्ग को, मुक्ति-मार्ग को, विशुद्धि-मार्ग को, "अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो" कहा गया, यानी आठ अगवाला ऐसा मार्ग, जो हमे आर्य बना दे। 'आर्य' शब्द का आज किसी जाति-विशेष के लिए प्रयोग होने लगा। भारतवर्ष की पच्चीससौ वर्ष पहले की जन-भाषा मे आर्य कहते थे सत व्यक्ति को, सज्जन व्यक्ति को, भले आदमी को, निर्मल चित्त व्यक्ति को। जो

व्यक्ति सत नही हुआ हो, निर्मल चित्त नही हुआ हो, यानी दूषित चित्त हो वह 'अनार्य' कहलाता था।

यह आठ अग वाला मार्ग किसी सप्रदाय का मार्ग नही है। यह सार्वजनीन मार्ग है, जो हर व्यक्ति को आर्य वना देता है, वह चाहे जिस सप्रदाय का, जाति का, मान्यता का या रग-रूप का हो। मनुष्य तो मनुष्य ही है, एकदम पलट जायगा। इस पर चलकर देखें। किसी के कहने से नही मानें, स्वय अनुभव करे।

आओ, इस मार्ग को समझे। इस मार्ग के तीन भाग हैं। शील, समाधि और प्रज्ञा।

शील का अर्थ है सदाचार। शील के अन्तर्गत धर्म के तीन अंग आते हैं :

'सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्त और सम्मा आजीवो।'

'सम्मा वाचा' अर्थात् सम्यक् वाणी। वाणी शुद्ध होनी चाहिए, पवित्र होनी चाहिए। वाणी की शुद्धता, निर्मलता को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वाणी का मैल क्या है ? जो झूठ वोलकर ठगता है, कडुवी-कटु वात वोलकर जी दुखाता है, चुगली की वात करके परस्पर प्रेम को तुडवाता है, फ़जूल-निरर्थक वात करके समय नष्ट करता है, वह वाणी को मैला करता है। वाणी के इन चार प्रकार के मैल से वचें। वाणी अपने आप पवित्र हो जायगी, शुद्ध हो जायगी।

'सम्मा कम्मन्त' अर्थात् शरीर के कर्म सम्यक् हो। कर्मान्त इसलिए कहा कि हर कर्म का प्रारभ मन से होता है, फिर वाणी पर उतरता है और आगे वढकर शरीर पर उतरता है। इसीलिए 'कर्मान्त' कहा। शरीर का हर कर्म शुद्ध, पवित्र होना चाहिए। शरीर के कर्म की शुद्धता को समझने के लिए यह समझें कि शरीर का मैल क्या है ? शरीर के चार प्रकार के मैले कर्म हैं—किसी प्राणी की हत्या करना, किसी दूसरे की वस्तु को चुराना, व्यभिचार करना और मादक पदार्थों का सेवन करना। शरीर के इन चार दुष्कर्मों से वचें, शरीर के कर्म अपने आप निर्मल हो जायगे।

शील के अन्तर्गत धर्म का तीसरा अग है 'सम्मा आजीवो', सम्यक्

आजीविका। हर व्यक्ति को जीवन-यापन के लिए कोई-न-कोई कार्य करना आवश्यक है, चाहे वह नौकरी हो या व्यवसाय। इसमे मापदण्ड यही है कि आजीविका के साधन मे अन्य किसी की हानि न हो। जिससे हमे आय होती है, आमदनी होती है, उसे हम धोखा न दें। बस, यही सम्यक् आजीविका है।

धर्म का दूसरा क्षेत्र है—समाधि। यदि धर्म मात्र शील-सदाचार के उपदेशो पर ही आकर रुक जाता तो धर्म, धर्म नही होता। शील-सदाचार के उपदेश तो हमेशा से सुनते आए है। "दुष्कर्म नही करना चाहिए", यह बात बुद्धि के स्तर पर खूब समझ मे आती है, अच्छी भी लगती है, लेकिन जब करने का समय आता है तो दुष्कर्म हो ही जाता है, क्योकि मन वश मे नही है। समाधि द्वारा मन वश मे किया जाता है। इसके तीन अग हैं .

"सम्मा वायामो, सम्मा सति, सम्मा समाधि ।"

'सम्मा वायामो' का अर्थ है सम्यक् व्यायाम, सम्यक् कसरत। जिस प्रकार शरीर के विकार, शरीर के रोग, दूर करने के लिए उचित व्यायाम, कसरत आवश्यक है, उसी प्रकार मन के विकार दूर करने के लिए, मन की निर्बलता दूर करने के लिए, मन का व्यायाम आवश्यक है। मन का यह व्यायाम क्या है ? अपने ही मन का निरीक्षण करते हैं और देखते हैं कि मन मे यह खराबी है, यह बुराई है, तो उसे निकालने का प्रयास करते हैं। फिर मन को देखते हैं और पाते है कि मन मे किसी प्रकार की बुराई नही है, तो मन के दरवाजे बद कर लेते हैं और प्रयत्न करते हैं कि जो बुराई मन में नही है, वह आने न पाए। फिर मन को देखते है और पाते है कि मन मे यह सद्‌गुण है, अच्छाई है, तो प्रयत्न करते हैं कि वे कायम रहे, उनका सवर्धन हो, उन्हे बढावें। फिर मन का निरीक्षण करते हैं और अनुभव करते हैं कि मन मे अमुक सद्‌गुण तो हैं ही नही, वे आने चाहिए। इसलिए प्रयास करते हैं कि वे सद्‌गुण प्राप्त हों—बस, यही चारो मन के सम्यक् व्यायाम हैं।

समाधि का अगला अग है 'सम्मा सति', सम्यक् स्मृति। पच्चीस सौ वर्ष मे भाषा बदल जाती है, अर्थ बदल जाते हैं। आज तो स्मृति

कहते हैं याददाश्त को, स्मरण-शक्ति को। उन दिनो स्मृति का मुख्य अर्थ था जागरूकता, सावधानी। जागरूकता वर्तमान क्षण की हुआ करती है। बीते हुए क्षणों के प्रति कोई सावधान नही रह सकता, उनका तो केवल स्मरण ही होता है। हम वर्तमान क्षण के प्रति जितने-जितने सजग हैं उतनी-उतनी सम्यक् स्मृति है। अपने बारे मे इस क्षण की सच्चाई है, बस इसी को महत्व देना है। हम देख रहे हैं कि मन अपनी पुरानी आदत के अनुसार भागता है—कभी भूत मे तो कभी भविष्य मे। प्रयत्न करते हैं, उसे वर्तमान पर लाते हैं। देखते हैं, सास आ रहा है, जा रहा है, स्पर्श कर रहा है, नही स्पर्श कर रहा है। जो भी मानसिक स्थिति है, उसी को देख रहे हैं। स्थूल से शुरू करके सूक्ष्मता की ओर उतरने लगे।

पहले स्थूल-स्थूल बातें जान ली, मोटा-मोटा सांस जान लिया। फिर जरा सूक्ष्म सास जान लिया, फिर सास का छूना जान लिया। अब इससे ज्यादा सूक्ष्म बात जानने की कोशिश करेंगे। एक ओर सास को जानते रहेगे, दूसरी ओर यह जानेंगे कि नाक के त्रिकोण का जो स्थान हमने चुना है वहा और क्या हो रहा है ? सास के स्पर्श की कुछ-न-कुछ प्रतिक्रिया हो ही रही है। मालूम होने लगेगा कि जो सांस भीतर की ओर आ रहा है, वह शीतल-सा लगता है, जो बाहर जाता है वह उष्ण-सा लगता है। यह प्रकृति के नियम के अनुसार बाहर और भीतर के वाता-वरण के प्रभाव से हो रहा है। यह वर्तमान की सच्चाई है, कल्पना नही है। धीरे-धीरे अन्य सच्चाइया प्रकट होने लगेंगी। ज्यो-ज्यो मन सूक्ष्म होने लगेगा, शरीर के अन्दर जो-जो जीव-रासायनिक, विद्युत्-चुम्बकीय प्रतिक्रियाए हो रही हैं, उनका अनुभव करने लगेगा।

फिलहाल तो अभ्यास को नाक के इस त्रिकोण तक ही सीमित रखना है। इसी सीमा के अदर देखेंगे कि कभी भारीपन मालूम हो रहा है तो कभी हलकापन, कभी शीतलता तो कभी गर्मी, कभी खुजलाहट तो कभी कुछ और। किस समय क्या होगा, इसकी पूर्व धारणा नही होनी चाहिए, पूर्व कल्पना नही होनी चाहिए। स्वभाव से अपने आप जो हो रहा है, उसे ही देखेंगे। जागरूक रहकर वर्तमान की सच्चाई को

देखेंगे। यही सम्यक् स्मृति है। इसके द्वारा हम अनुभूतियो के स्तर पर ज्ञात से अज्ञात क्षेत्र को जानेंगे।

इस क्षेत्र का तीसरा अग है, 'सम्मा समाधि', सम्यक् समाधि। समाधि का अर्थ है चित्त की एकाग्रता। मन किसी भी आलबन को लेकर एकाग्र हो सकता है, लेकिन मन की एकाग्रता मात्र सम्यक् समाधि नही है। आलबन को लेकर यदि हम राग पैदा कर रहे हैं, द्वेष पैदा कर रहे हैं तो यह सम्यक् समाधि नही है। आलबन को देखने का हमारा प्रयत्न राग, द्वेष और मोह-विहीन हो। हमारा चित्त एकाग्र हो और सतत जागरूक हो। जागरूकता इस क्षण की सच्चाई के प्रति हो और साथ ही राग, द्वेष और मोह-विहीन हो। बस, यही सम्यक् समाधि है।

यह जो हम सास को देख रहे हैं तो न राग जागता है, न द्वेष जागता है और न ही कोई भ्रम-भ्राति यानी मोह-मूढता है। सास आ रहा है, जा रहा है—इसी को देख रहे हैं। यदि कोई सवेदना मालूम हो रही है तो उसे भी राग, द्वेष और मोह-विहीन होकर देख रहे है। ऐसी समाधि मे स्थित व्यक्ति राग, द्वेष और मोह-विहीन अवस्थाओ मे वर्तमान क्षण की सच्चाई के प्रति सतत जागरूक है। यही सम्यक् समाधि है, शुद्ध समाधि है, निर्मल समाधि है।

प्रज्ञा की चर्चा कल करेंगे। ०

क्षण-क्षण, क्षण-क्षण बीतते, जीवन बीतत जाय।
क्षण-क्षण का उपयोग कर, बीता क्षण नहि आय॥

अपना भी होवे भला, भला सभी का होय।
जन-जन का मगल सधे, शुद्ध धरम है सोय॥

सास देखते-देखते, सत्य प्रगटता जाय।
सत्य देखते-देखते, परम सत्य दिख जाय॥

धरम न मिथ्या मान्यता, धरम न मिथ्याचार।
धरम न मिथ्या कल्पना, धरम सत्य का सार॥

जब-जब अन्तर जगत मे, जागे चित्त विकार।
मैं भी दुखिया हो उठू, दुखी करूं ससार॥

हिन्दू हो या बौद्ध हो, मुसलिम हो या जैन।
जब-जब मन मैला करे, तब-तब हो बेचैन॥

तीसरा दिन

आज हमारी साधना के तीन दिन पूरे हुए। कल दोपहर को विपश्यना दी जायगी। तबतक के लिए स्मृति का अभ्यास करना है और समाधि को पुष्ट करना है। मन को और अधिक सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण बनाना है।

ध्यान के स्थान को जरा छोटा करना होगा। अब नासिका के नीचे ऊपर वाले होठ तक का जो स्थान है, उस पर जो सवेदना मालूम हो, उसे महत्व देंगे। उसे देखेंगे।

सवेदना शब्द को लेकर कभी-कभी साधको के मन मे एक भ्रम, एक भ्राति पैदा होती है? क्योकि ध्यान के नाम पर हमने बहुत-से बौद्धिक लेप लगा लिये हैं तो किसी अलौकिक अनुभूति की अपेक्षा होती है। लेकिन यह विधि अपने आप मे निराली है। यहा किसी अलौकिकता के पीछे नही दौड़ना है। जो स्वाभाविक है, नैसर्गिक है, वास्तविक है, बस, केवल उसे ही देखना है।

कल हमने धर्म के आठ अगो मे से छ अगो की चर्चा की थी। शील की चर्चा हुई, जिसमे शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से बचने की बात थी। समाधि की चर्चा हुई, जिसमे मन को वश मे करने की बात आयी। पर हमेशा मन के साथ जोर-जबरदस्ती करके, उसे दमन करते हुए कोई व्यक्ति दुखो से छुटकारा नही पा सकता। हर दमन हमारे मन मे एक नई गाठ, एक नया तनाव, पैदा करता है। दमन द्वारा एक बार वाणी और शरीर के दुष्कर्मों से तो बच जाते है क्योकि मन अपने वश मे आ गया, पर यह सही समाधान नही है। प्रारभ तो अवश्य उससे होता है, पर जरा

क्षण-क्षण, क्षण-क्षण बीतते, जीवन बीतत जाय।
क्षण-क्षण का उपयोग कर, बीता क्षण नहिं आय॥

अपना भी होवे भला, भला सभी का होय।
जन-जन का मगल सधे, शुद्ध धरम है सोय॥

सास देखते-देखते, सत्य प्रगटता जाय।
सत्य देखते-देखते, परम सत्य दिख जाय॥

धरम न मिथ्या मान्यता, धरम न मिथ्याचार।
धरम न मिथ्या कल्पना, धरम सत्य का सार॥

जब-जब अन्तर जगत मे, जागे चित्त विकार।
मैं भी दुखिया हो उठू, दुखी करूं ससार॥

हिन्दू हो या बौद्ध हो, मुसलिम हो या जैन।
जब-जब मन मैला करे, तब-तब हो बेचैन॥

तीसरा दिन

आज हमारी साधना के तीन दिन पूरे हुए। कल दोपहर को विपश्यना दी जायगी। तबतक के लिए स्मृति का अभ्यास करना है और समाधि को पुष्ट करना है। मन को और अधिक सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण बनाना है।

ध्यान के स्थान को जरा छोटा करना होगा। अब नासिका के नीचे ऊपर वाले होठ तक का जो स्थान है, उस पर जो सवेदना मालूम हो, उसे महत्व देंगे। उसे देखेंगे।

सवेदना शब्द को लेकर कभी-कभी साधको के मन मे एक भ्रम, एक भ्रांति पैदा होती है ? क्योकि ध्यान के नाम पर हमने बहुत-से बौद्धिक लेप लगा लिये हैं तो किसी अलौकिक अनुभूति की अपेक्षा होती है। लेकिन यह विधि अपने आप मे निराली है। यहा किसी अलौकिकता के पीछे नही दौडना है। जो स्वाभाविक है, नैसर्गिक है, वास्तविक है, बस, केवल उसे ही देखना है।

कल हमने धर्म के आठ अगों मे से छ अगो की चर्चा की थी। शील की चर्चा हुई, जिसमे शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से बचने की बात थी। समाधि की चर्चा हुई, जिसमे मन को वश मे करने की बात आयी। पर हमेशा मन के साथ जोर-जबरदस्ती करके, उसे दमन करते हुए कोई व्यक्ति दुखो से छुटकारा नही पा सकता। हर दमन हमारे मन मे एक नई गाठ, एक नया तनाव, पैदा करता है। दमन द्वारा एक बार वाणी और शरीर के दुष्कर्मों से तो बच जाते हैं क्योकि मन अपने वश मे आ गया, पर यह सही समाधान नही है। प्रारभ तो अवश्य उससे होता है, पर जरा

सा ही। हमे आगे बढना है और उसी को 'प्रज्ञा' कहते है। प्रज्ञा के क्षेत्र मे गहराइयो से गुजर जायगे तो मन को दबाने की जरूरत नही होगी।

आज प्रज्ञा के क्षेत्र को बौद्धिक स्तर पर समझेगे। धर्म के शेष दो अग प्रज्ञा के अन्तर्गत आते हैं—'सम्मा सकप्पा' यानी सम्यक् संकल्प और 'सम्मा दिट्ठि', यानी सम्यक् दृष्टि।

सकल्प का अर्थ है—चिंतन, मनन। हमारे मन मे जो विचार चलते है, सकल्प-विकल्प चलते है वे सम्यक् होने चाहिए, सही होने चाहिए। जब साधना का अभ्यास प्रारभ किया तब भी विचार चलते थे और अब भी चलते हैं। हर साधक ने अनुभव किया होगा कि जब कार्य शुरू किया तब विचार बहुत अधिक राग-रजित, द्वेष-दूषित और मोह-विमूढित थे। सास के प्रति साक्षीभाव लाते-लाते, स्मृति का अभ्यास करते-करते, अनुभव हुआ होगा कि दूषित विचारो से थोडा-थोड़ा छुटकारा होने लगा है। दूषित विचार कम होने लगे हैं।

प्रज्ञा के क्षेत्र का दूसरा अग है सम्यक् दृष्टि, सम्यक् दर्शन। दर्शन शब्द आज बडा भ्रामक हो गया है। पच्चीस सौ वर्ष पहले भी दर्शन शब्द का दुरुपयोग होने लगा था। ध्यान के क्षेत्र मे, अध्यात्म के क्षेत्र मे, जिस सही अर्थ का प्रयोग होना चाहिए, वह तो लुप्त हो गया और दर्शन का अर्थ होने लगा अमुक-अमुक मान्यताए, परम्पराए। हर सप्रदाय की अपनी भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताए होती हैं। हर सप्रदाय अपनी इन दार्शनिक मान्यताओ को महत्व देता है और मानता है कि यही सम्यक् दर्शन है। बस, यही विवाद खड़े हो गए। दर्शन का सही और वास्तविक अर्थ लुप्त हो गया। दर्शन का सही अर्थ है जो बात, जो वस्तु जैसी है, उसे वैसे ही उसके गुण-धर्म-स्वभाव मे देखें। यही सम्यक् दर्शन है।

प्रज्ञा के तीन सोपान हैं—श्रुतमयी प्रज्ञा, चिंतनमयी प्रज्ञा और भावनामयी प्रज्ञा।

श्रुतमयी प्रज्ञा का अर्थ है वह ज्ञान, जो हमने सुन लिया अथवा शास्त्रो मे पढ लिया। बड़ा उपयोगी है यह ज्ञान। इसका अपना लाभ है। इससे प्रेरणा मिलती है, मार्ग-दर्शन मिलता है। लेकिन किसी बात को केवल श्रद्धापूर्वक मान लेना मात्र काफी नही है। इस ज्ञान से, मार्ग-दर्शन से

प्रेरणा लेकर आगे कदम बढे, तभी लाभ होता है, अन्यथा केवल सुना या पढा हुआ ज्ञान अन्ध-श्रद्धा का रूप ले लेता है।

चिंतनमयी प्रज्ञा का अपना महत्व है। चिंतन-मनन करना मनुष्य का स्वभाव है, उसका अपना प्राकृतिक धर्म है। वह हर बात अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसकर देखेगा। मनन करेगा तो ही स्वीकार करेगा। यह प्रज्ञा का दूसरा क्षेत्र है। जो कुछ सुना है, पढा है, उस पर चिंतन-मनन करके यह निश्चय करना कि कौन-सी बात युक्तिसगत है, न्याय-सगत है, तर्क-सगत है, धर्म-सगत है ? तब ही उसे स्वीकार करना। लेकिन इससे भी अगला कदम है और वह नही उठा तो यह स्थिति भी खतरनाक हो जायगी। सिर पर एक दम्भ सवार हो जायगा कि मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया—सारे शास्त्र पढ लिये, उन शास्त्रो को तर्क-वितर्क से समझ लिया। मैं बड़ा प्रज्ञावान हो गया। यह भी बड़ी भ्रातिमय स्थिति है। जबतक अपनी अनुभूति के स्तर पर अपने ज्ञान की वृद्धि नही होगी, सही माने मे लाभ नही होगा।

अतः श्रुतमयी और चिंतनमयी प्रज्ञा से लाभ लेकर अगला कदम उठाना, भावनामयी प्रज्ञा के क्षेत्र मे प्रवेश करना है। अपनी अनुभूतियो के बल पर जो प्रज्ञा बढ रही है वह कल्याण कारिणी प्रज्ञा है। उसी से मनोबल सधता है, पुरानी गाठें खुलती हैं, नई गाठें नही बधती। हम जो साधना कर रहे हैं, उसका यही लक्ष्य है कि प्रत्येक साधक की भावनामयी प्रज्ञा जाग्रत हो।

हर परपरा के महापुरुषो ने जो बात कही, अपने अनुभवो से कही। पर वह हमारे काम की तभी होगी जबकि वह सारा अनुभव हमारे जीवन मे उतरे। जो अनुभूति होती है, उसे शब्दो मे पूरी तरह नही उतारा जा सकता। कुछ तो अनुभूतिया ऐसी हैं, जो इद्रियातीत हैं। अन्तिम सत्य की अनुभूति हैं, परम सत्य की अनुभूति हैं। इन अनुभूतियो को शब्दो मे उतारना नितात असभव है, क्योकि शब्दो की अपनी सीमा होती है, भाषा की अपनी सीमा होती है। इसलिए सत्य की खोज मे निकले साधक के लिए यह आवश्यक है कि सत्य को अपनी अनुभूति के स्तर पर जाने। यही भावनामयी प्रज्ञा है। इस प्रकार सत्य की खोज आरभ करते है तो

अन्तर्मुखी होकर जिस सच्चाई का पहले दर्शन करते है, वह हमेशा स्थूल, ठोस, ही होती है। स्थूल सत्य का दर्शन होता है, घनीभूत सत्य का दर्शन होता है। घनीभूत सत्य को देखते-देखते उसके टुकडे होने लगते है तो फिर सूक्ष्म, सूक्ष्मता और फिर सूक्ष्मतम सत्य के दर्शन होने लगते हैं और अन्तत अन्तिम सत्य, परम सत्य, तक जाते है। अपनी अनुभूति मे जो उतर रहा है, वही अपनी प्रज्ञा है। यह प्रज्ञा कैसे वढे, कैसे भावित हो, कैसे इसका वहुलीकरण हो? जो सच्चाई जैसे प्रकट हुई, उसे वैसे ही देखेंगे, वैसे ही स्वीकारेंगे। इस पर किसी मान्यता का, दर्शन का, अथवा राग का, द्वेष का, भ्राति का रग-रोगन नही चढायगे।

सवसे पहली स्थूल इकाई इस शरीर की है। इससे काम शुरू करते है और इसकी सूक्ष्मताओ मे उतरते हैं। धीरे-धीरे चित्त की सूक्ष्मताओ मे उतरते हैं। उसके गुण, धर्म, स्वभाव को देखते हैं। इसके वाद जो इद्रियातीत धर्म है, सच्चाई है, लोकातीत धर्म है, सच्चाई है, उसका साक्षात्कार अपने आप हो जाता है।

शरीर की और संसार की अनित्यता और क्षण-भगुरता के वारे मे खूव सुना और पढा, लेकिन अनुभूतियो के स्तर पर यह वात नही जानी। इसलिए वडी भ्राति होती है। उस व्यक्ति ने, जिसे सम्यक् सम्वोधि प्राप्त हुई, वाहर की दुनिया को खूव देखा। वाहर की सच्चाइयो को वहुत देखा। फिर अन्तर्मुखी होकर अन्तर की सच्चाई को देखने लगा। इस शरीर के वारे मे क्या सच्चाई है? हड्डी है, मास है, लहू है, त्वचा है, इत्यादि-इत्यादि। फिर इन्हे टुकडे करके देखा तो पाया कि ये सव-के-सव नन्हे-नन्हे परमाणु-कणो से वने हैं और ये परमाणु-कण भी उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं। अनुभूति से मालूम हुआ कि उत्पन्न-नष्ट होने वाले ये कण 'परमाणु' से भी छोटे हैं। उस समय की समृद्ध भाषा मे भी ऐसे छोटे कण को व्यक्त करने के लिए कोई शव्द नही था। तो एक नया शव्द गढ लिया 'अष्टकलाप'। अष्टकलाप उस इकाई को कहा, जहा आठ चीजें जुड गयी। उनके और टुकडे नही हो सकते। यह है भौतिक जगत की नन्ही-से-नन्ही इकाई।

क्या आठ वातें जुड़ गयी? चार भौतिक तत्व और उनके अपने-

अपने गुण, धर्म, स्वभाव। पृथ्वी तत्व, जल तत्व, अग्नि तत्व, वायु तत्व—अपने-अपने गुण-धर्मों के साथ। और फिर देखा कि यह जो इतनी नन्ही-सी इकाई है, यह भी ठोस नही है। तरग-ही-तरग है। नश्वर है, भगुर है, उदय-व्यय ही उदय-व्यय है। और देखा कि इतनी तीव्र गति से इन तरगो का उदय-व्यय हो रहा है कि पलक झपकने भर मे ये अष्टकलाप अनेक शत सहस्र कोटि बार उत्पन्न हो-होकर नष्ट हो जाते हैं।

अनुभूतियो के स्तर पर जब यह बात स्पष्ट होती है कि यह शरीर कितना अनित्य है, कितना भगुर है। प्रतिक्षण उदय होता है, व्यय होता है तो आसक्तिया अपने आप टूटने लगती है। जितनी-जितनी अनुभूति-वाली यह प्रज्ञा पुष्ट होती है, सम्यक् होती है, उतनी-उतनी आसक्ति टूटती ही है। प्रज्ञा का यह पहला स्वरूप, अनित्यबोध का स्वरूप, जब जागने लगता है, प्रमुख होने लगता है, तो राग दूर होते हैं, द्वेष दूर होते हैं, मोह दूर होते हैं यानी दुख दूर होते है, व्याकुलता दूर होती है, कठिनाइया दूर होती हैं, तनाव दूर होते हैं।

ज्यो-ज्यो अनित्य-बोध पुष्ट होने लगता है त्यो-त्यो प्रज्ञा का दूसरा अग अनात्म-बोध स्पष्ट होने लगता है। यह अनात्म-बोध क्या है ? इसे भी ठीक से समझें।

दार्शनिको के अनात्मवाद और आत्मवाद के विवाद मे हमे नहीं पडना है। अनात्मभाव अर्थात् अहम्भाव और ममभाव का अभाव। "मैं" नही है, "मेरा" नही है। इस "मैं-मैं" ने, "मेरा-मेरा" ने कितनी आसक्ति पैदा कर दी है, यह खूब समझ मे आने लगेगा। व्यवहार-जगत मे "मैं-मेरा", "तू-तेरा" कहना पडता है। लेकिन वास्तविक कठिनाई आसक्ति की है, जिसके कारण दुख होता है। वस्तुत इस शरीर-स्कध के प्रति गहरा चिपकाव हो गया है, गहरी आसक्ति, हो गयी है। ऐसे ही चित्त-स्कध के प्रति गहरा चिपकाव, गहरी आसक्ति, हो गयी है। अनुभूति के स्तर पर देखने लगेंगे तो पता लगेगा कि जिनके प्रति आसक्ति पदा कर रहे हैं, ये तो तरगें-ही-तरगें हैं।

"सब्बो पज्जलितो लोको, सब्बो लोको पकम्पितो।"

सारे लोक प्रज्वलित-ही-प्रज्वलित हैं, सारे लोक प्रकम्पित-ही-प्रकम्पित हैं। यह तो उदय-व्यय का प्रकम्पन है, इसमे "मैं" और "मेरा" जैसा कुछ है ही नही। जब यह शरीर ही मेरा नही है तो इससे एक कदम भी आगे, एक इच भी आगे जो वस्तु है, व्यक्ति है, स्थिति है, वह "मेरी" कैसे होगी ? अनात्म का अर्थ है जहा अहम् समाप्त हो जाय, मम समाप्त हो जाय। तभी राग मिटता है, द्वेष मिटता है।

अनित्य और अनात्मबोध के साथ-साथ प्रज्ञा के तीसरे अग— "दुख" का वास्तविक बोध होने लगता है। सही माने मे दुख क्या है ? यह बात समझ मे आने लगती है। जो अनित्य है, प्रतिक्षण बदलता है, प्रतिक्षण भग होता है, जिस पर मेरा कोई अधिकार नही है, जो "मैं" नही, "मेरा" नही, उसके प्रति जितनी-जितनी आसक्ति है, उतना-उतना दुख ही है। यह बात अनुभूतियो से समझ मे आयेगी, प्रवचनो से नही। सही माने में दुख के दर्शन होने लगेंगे। स्थूल-स्थूल दुख के दर्शन तो होगे ही, आगे चलकर सूक्ष्म दुख के भी दर्शन होने लगेगे, जिसे दुनियादारी की भाषा मे "सुख" कहते है। अभी तो शरीर पर होने वाली स्थूल-स्थूल पीड़ाओ का जितना दुख है, उसे साक्षी भाव से देखना सीखेंगे। जिसे सुखद सवेदना कहते है, अनित्य स्वभाववाली होने के कारण उसके नष्ट होने पर जो दुख होता है, उसे भी जानेंगे और साक्षीभाव से देखना सीखेंगे।

अनित्य, अनात्म और दुःख की ये तीनो प्रज्ञाए भीतर से अपने आप जागने लगेंगी, तो बाह्य जगत मे भी प्रज्ञा का शासन चलेगा। जो बात अशुभ है, अशुभ ही लगेगी। जो असुन्दर है, असुन्दर ही लगेगी।

जैसे-जैसे अन्तर्मुखी होकर गहराइयो मे प्रवेश करेंगे तो मालूम होगा कि सगठन की, सश्लेषण की घनीभूत हो जाने की अपनी माया है। बडा भ्रम पैदा करती है यह माया। ज्यो-ज्यो प्रज्ञा पुष्ट होने लगेगी, सारी बात जैसी है, वैसी ही दिखने लगेगी। जैसा बाहर, वैसा भीतर। इस

प्रकार के ज्ञान से कभी घृणा नही जागेगी। धर्म कभी किसी से घृणा करना नही सिखाता। मैत्री जागेगी, करुणा जागेगी, जीवन मे समता आयगी।

इस भावनामयी प्रज्ञा को जगाने के लिए कल काम शुरू करेंगे। इन तीन दिनो तक शील पालन करते हुए समाधि के क्षेत्र मे जो पुरुषार्थ किया है, उसका लाभ कल मिलेगा। कितनी गहराइयो मे जा सकेंगे, यह बात हर व्यक्ति की अपनी मेहनत पर, अपने काम पर, अपनी तपस्या पर निर्भर करती है। निरन्तर अभ्यास मे लगे रहे। सफलता मिलने ही वाली है। ●

कायिक करम सुधार ले, वाचिक करम सुधार।
मनसा करम सुधार ले, यही धरम का सार॥

जो चाहे बन्धन खुले, मुक्ति दुखो से होय।
वश मे कर ले चित्त को, चित के वश मत होय॥

चित से चित का दमन कर, चित से चित्त सुधार।
चित्त स्वच्छ कर चित्त से, खोल मुक्ति के द्वार॥

पर-सेवा ही पुण्य है, पर-पीडन ही पाप।
पुण्य किये सुख ही मिले, पाप किये दुख-ताप॥

कुशल करम करते रहे, करे न पाप लवलेश।
मन निरमल करते रहे, शुद्ध धरम उपदेश॥

कुदरत का कानून है, सब पर लागू होय।
मैले मन दुखिया रहे, निरमल सुखिया होय॥

चौथा दिन

साधना का चौथा दिन पूरा हुआ। चौथा दिन बडे महत्व का दिन है। तीन दिन से इसी के लिए परिश्रम कर रहे थे। अनेक साधको ने आज पहली बार अपने भीतर सत्य की धर्म-गगा मे डुबकी लगायी।

जब से जन्म लिया, आखें खोली, बाहर-बाहर ही देखा। बहिर्मुखी, बहिर्मुखी, सारे जीवन बहिर्मुखी ही रहा। कही धर्म के नाम पर कोई काम किया भी तो बाहर-बाहर का ही—बाहरी वेश-भूषा, बाहरी बनाव-शृगार, बाहरी दिखावा, बाहरी आडम्बर। थोडा और आगे बढा तो बाहरी-बाहरी कर्मकाड। इन्ही मे सारा जीवन बिता दिया। यदि कोई कुछ और आगे बढा तो अध्यात्म के नाम पर बुद्धि-विलास करने लगा। केवल दार्शनिक ऊहापोह, दार्शनिक वाद-विवाद। अध्यात्म का अर्थ ही नही समझा, धर्म का अर्थ ही नही समझा। अध्यात्म कहते हैं अपने भीतर की सच्चाइयो को स्वानुभूति द्वारा जानने को। धर्म कहते हैं धारण करने को। पर न कभी भीतर देखकर सच्चाई का अनुभव किया, न उसे धारण किया। सत्य के अनुसधान का कार्य ही नही किया, खोज का कार्य ही नही किया। भीतर जो अमृत भरा है, उस तक पहुचा ही नही, उसे चखा ही नही।

आज जो कदम उठाया है, वह नन्हा-सा कदम है इस लम्बी यात्रा का, जिस पर हम चलना चाहते हैं। अन्तर्मुखी होने का पहला कदम है; इसलिए बडे महत्व का है। अन्तर्मुखी दो प्रकार से हो सकते है—एक तो आखें बन्द करके बैठ गए और लगे किसी कल्पना का ध्यान करने—कल्पना-ही-कल्पना। कल्पना बडी प्रिय लगती है, बड़ी सुखद, पर सच्चाई

से कोसो दूर। दूसरे अन्तर्मुखी होते है कल्पना से मुक्त, सत्य-दर्शन के लिए। हमे यही करना है।

भारतवर्ष बड़ा पुराना देश है। इस देश मे साधना की अनेक विधिया उत्पन्न हुईं, पनपी, बिगड़ी, नष्ट हुईं, लुप्त हुईं। यह एक अलग विधि है—भारत की लुप्त हुई पुरातन साधना-विधि। इसे समझें। किसी पूर्वाग्रह से, पूर्व-बुद्धि लेप से शका मे न उलझें।

आज हम समझेंगे कि इस साधना का यह पहला कदम क्या है? कैसा है? नए-नए साधको के समक्ष कई प्रश्न आते है। कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो समान रूप से सभी नए साधको के समक्ष आते हैं। पहले उनका समाधान कर लें।

एक प्रश्न यह उठता है कि सिर से पाव तक की यह यात्रा किसी एक क्रम से ही क्यो करें? आवश्यक नही कि जो क्रम हमने बतलाया है उसी क्रम से करें। किसी क्रम से करें, लेकिन क्रम से अवश्य करें, ताकि शरीर का कोई अग छूट न जाय। इस शरीर-स्कन्ध के बारे मे हम सत्य की खोज कर रहे हैं। इस खोज मे किसी अग को अछूता नही रखना है। किसी अग को मूर्च्छित नही छोड़ना है।

एक प्रश्न यह उठता है कि जो सिर से पाव तक की यात्रा है, यह ऊपरी स्तर पर ही करें या भीतर भी? आगे जाकर तो यह यात्रा भीतर तक करनी ही है। फिलहाल ऊपरी-ऊपरी स्तर पर सवेदना को देखें। जब सारे शरीर मे सवेदना महसूस होने लगे तो भीतर तक देखना आसान हो जायगा। यदि किसी को अभी भीतर तक महसूस होने लगा तो बहुत ठीक, अन्यथा इसके लिए आतुर न हो।

एक प्रश्न यह उठता है कि यह जो सिर से पाव तक चक्कर लगाते हैं, उसमे कितना समय लगना चाहिए? उसके लिए कोई समय निर्धारित नही है। निर्भर करता है साधक की मन स्थिति पर। कभी-कभी मन दुर्बल होता है, चचल होता है, तो बड़ा स्थूल होता है। जहा पहुचें वहा कुछ महसूस ही नही हुआ तो एक-दो मिनट रुककर आगे चलता है। इस तरह रुकते-रुकते यात्रा मे आधा घटा भी लग जाय, एक घटा भी लग जाय। हमे अपना काम करना है। जो समय लगता है, लगे। जब मन

सजग है, स्थिर है तो जहा पहुचा वही कुछ महसूस हुआ और तुरत आगे बढा तो समय कम लगेगा। लेकिन अब जबकि काम शुरू ही किया है तो एक पूरी यात्रा मे कम-से-कम दस मिनट तो लगने ही चाहिए, ताकि कोई अग छूटने न पाए। जहा कही कुछ महसूस न हो और उस स्थान पर एक-दो मिनट के लिए रुकें तो बड़े धीरज के साथ निरीक्षण करें। यदि सवेदना नही मालूम हो तो व्याकुल न हो। सवेदना उत्पन्न करने का व्यर्थ प्रयत्न नही करना है। कोई कृत्रिम सवेदना नही लानी है। जैसी स्थिति है उसे साक्षीभाव से देखना है। हमारे शरीर के प्रत्येक अग मे कुछ-न-कुछ हो ही रहा है। शांत चित्त से उसे देखना है। धीरे-धीरे स्थूल मन सूक्ष्म होने लगेगा और सूक्ष्म मन सवेदनशील होने लगेगा।

हमे अपने शरीर के अग-प्रत्यग मे जो कुछ स्वभाव से हो रहा है, उसे देखना है। यदि मौसम के कारण शरीर पर प्रभाव पड रहा है तो उसे देखेंगे। शरीर पर गर्मी है तो गर्मी को देखेंगे, पसीना है तो पसीने को, भारीपन है तो भारीपन को। कही कोई रोग या बीमारी के कारण दर्द है, तो दर्द को देखेंगे। अबतक भोक्ता होकर भोगते आए हैं। अब उसे साक्षीभाव से, तटस्थभाव से, देखेंगे। न अच्छा मानेंगे, न बुरा मानेंगे। जिस स्थान पर जैसी सवेदना हो रही है, उसे जानना है। बस, केवल जानना है। प्रतिक्रिया नही करनी है। कदम-कदम सच्चाई के सहारे, तथ्य के सहारे चलेंगे। प्रारंभ में बडे स्थूल तथ्य ही सामने आते है—ये प्रकट सत्य हैं, भासमान सत्य हैं। किसी अग मे बडे जोर की पीडा महसूस हो रही है। यह घनीभूत पीडा इस क्षण की सच्चाई है। शरीर का अमुक भाग ठोस है, यह इस क्षण का प्रकट सत्य है, भासमान सत्य हैं। उसे साक्षीभाव से देखेंगे। उसके टुकडे होने लगेंगे, विघटन-विश्लेषण होने लगेगा। सघनता टूटेगी। अतत. यह प्रतीत होगा कि यह पीडा, यह सघनता केवल तरगें-ही-तरगें हैं। इस तरह प्रकट, भासमान, सत्य से हम परमार्थ सत्य की ओर बढेंगे। घनीभूत सत्य का विना विघटन-विश्लेपण किए, टुकडे-टुकडे किए, हम परम सत्य तक नही पहुच पायगे। यदि हमे सूर्य का दर्शन करना है तो जबतक घने-घने बादल छाये रहेंगे, सूर्य का दर्शन नही कर सकेंगे। जैसे ही घने बादल बिखर जायगे

सूर्य-दर्शन का प्रत्यन नही करना पडेगा। अपने आप हो जायगा। जब-तक चित्त पर राग के, द्वेष के, मोह के घने-घने वादल छाए रहेगे, परम सत्य का साक्षात्कार नही हो सकेगा।

इस समय ठोस सत्य हमारे सामने आया है, उसे स्वीकार कर साक्षीभाव से देखना है। कुदरत के कानून को देखना है। कुदरत का कानून, प्रकृति का नियम, सर्वव्यापी है, सब पर लागू होता है। सजीव, निर्जीव, अणु-अणु पर लागू होता है। जिस समय इसका साक्षात्कार हो जाता है, मनुष्य अपने आप इस कानून के अनुसार ढल जाता है। यह साधना इसीलिए कर रहे हैं कि हम अपनी-अपनी अनुभूतियो के स्तर पर प्रकृति के इस विधान को समझें, परम सत्य को जाने और उसके अनुसार अपने जीवन को ढालें। यही धर्म है।

सारे ससार मे प्रतिक्षण कुछ वदल रहा है, कोई घटना घट रही है। कोई वीज धरती मे वोया गया तो वह फूट रहा है है, अकुरित हो रहा है। एक नन्हा-सा पेड फूट रहा है, उसमे से कोई डाल निकल रही है, शाखा निकल रही है, टहनी निकल रही है, पत्ता निकल रहा है, विकसित हो रहा है, फूल निकल रहा है, फल निकल रहा है, विकसित हो रहा है। पेड वढ रहा है। यह सच्चाई है कि कुछ-न-कुछ वने ही जा रहा है। इसलिए इस ससार को भव ससार कहा गया—भव, भव, भव। वैसे व्यवहार जगत मे कहना पडता है कि अमुक प्राणी है, जीव है, भूत है लेकिन वास्तव मे ऐसा कुछ है ही नही। केवल भव है, भव है। ऐसा कुछ भी नही है, जो वन वनाके तैयार हो गया हो और उसमे अव कोई परिवर्तन नही होगा। सवकुछ वदल ही रहा है। यह सच्चाई जब अनुभूति के स्तर पर जानेंगे, तव वास्तव मे एक महत्वपूर्ण सत्य का दर्शन होगा।

साधना के अभ्यास मे एक और सच्चाई सामने आती है कि जो वदल रहा है, वह अकस्मात्, अकारण, नही बदल रहा। उसके पीछे एक या अनेक कारण हैं। विना कारण के कुछ होता ही नही। किसी कारण से ही कोई कार्य सपन्न होता है, जो अगले कार्य का कारण वन जाता है। यह कार्य-कारण, कारण-कार्य की शृखला अनवरत गति से चलती रहती है। ज्यो-ज्यो गहराइयो मे उतरते जायगे एक और सच्चाई स्पष्ट होने लगेगी।

जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य सम्पन्न होता है। प्रकृति का नियम है जैसा बीज, वैसा फल। यदि कड़वा नीम बोयेंगे तो कडवा फल ही आयगा। मीठा आम बोयेंगे तो मीठा फल ही आयगा। यह प्रकृति का अटूट नियम है। इसके विपरीत हो ही नही सकता।

जैसा बीज वैसा ही फल आने वाला है तो अपने कर्म-बीजो के प्रति सजग रहना होगा। समझें कि कर्म क्या हैं ? किसे कर्म-बीज कहे ? कर्म तो शरीर, वाणी और मन से भी होता है। कौन-से कर्म को महत्व दें ? सामान्यतया लोग शरीर के कर्म को ही प्रमुख मानते हैं, वाणी के कर्म को उसमे हल्का और मन के कर्म को कोई महत्व ही नही देते, लेकिन जिस व्यक्ति को सम्यक् सम्बोधि प्राप्त होती है, जिसने अनुभूतियो के स्तर पर कुदरत के कानून को समझा, वह जान लेता है कि न शरीर का कर्म फल देता है, न वाणी का कर्म। मन का कर्म ही फल देता है। शरीर और वाणी के कर्म तो मन के कर्म के ही बाह्य प्रक्षेपण हैं, बाह्य प्रकटीकरण हैं। हर कर्म पहले मन मे शुरू होता है। फिर बढते-बढते तीव्र होगा तो वाणी पर उतर आयगा। और अधिक तीव्र होगा तो शरीर पर उतर आयगा। जो शरीरया वाणी का दुष्कर्म है, वह मन के दुष्कर्म की ही सतान है। इसी प्रकार जो शरीर या वाणी का सत्कर्म है वह भी मन के सत्कर्म की ही सतान है। यह कुदरत का कानून किसी के उपदेश से नही मान लेना है। किसी पुस्तक मे लिखा है, इसलिए नही मान लेना है। अनुभूतियो से जानकर मानना है कि जैसी चित्त की चेतना होती है, वैसा ही फल आता है।

ये सारी बातें अनुभूतियो मे उतरेंगी तो कुदरत के कानून को ठीक से समझेंगे और तब अपने चित्त पर पहरा लगायगे। जो व्यक्ति अपने चित्त की चेतना पर पहरा लगाने लगा, उसको अपनी वाणी पर, शरीर पर पहरा लगाने की आवश्यकता नही। यदि चित्त की चेतना सुधरी हुई है तो वाणी से, शरीर से जो कर्म होगे, कल्याणकारी ही होगे।

साधना आरभ करते-करते हमने अपने शरीर और चित्त-स्कध के बारे मे कुछ-कुछ सच्चाइयो को अनुभूति के सहारे देखा था। सास को देखते-देखते भी चित्त की बात थोडी समझ मे आने लगी थी। अब काया

को देखते-देखते, काया की सवेदना को देखते-देखते, चित्त और चित्त-वृत्तियो की बात और अधिक समझ मे आने लगेगी। यह समझने लगेंगे कि यह मन या चित्त क्या है? इसकी चेतना क्या है? कैसे काम करती है?

चित्त की चेतना के चार मोटे-मोटे स्तम्भ, चार मोटे-मोटे हिस्से, हैं। उन दिनो की भाषा मे चित्त के पहले खण्ड को विज्ञान, दूसरे को सज्ञा, तीसरे को वेदना और चौथे खण्ड को सस्कार कहा गया।

उन दिनो विज्ञान का अर्थ था केवल जानना। अंग्रेजी मे अनुवाद करें तो इसे 'कॉन्शसनैस' कह सकते हैं। ये जो आखें है, नाक है, जीभ है, कान है, त्वचा है, ये इद्रिया अपने आप मे बिल्कुल निर्जीव हैं। जब-तक चेतना का यह विज्ञान-खण्ड इनके साथ नही लगता, तबतक ये काम नही कर सकती। इसके साथ विज्ञान खंड के जुडते ही जानकारी होती है किसी वस्तु की, पदार्थ की, गध की, रस की, शब्द आदि की। बस, केवल जानकारी होती है। जैसे ही जानकारी हुई, चेतना का दूसरा खण्ड सज्ञा उत्पन्न होता है, जिसका काम पहचानने का है। यह पहचान अबतक के अनुभवो के आधार पर, याददाश्त के आधार पर, होती है। पहचान होती है तो मूल्याकन होता है। शब्द आए तो पहचाना—ये प्रशसा के हैं, ये गाली के हैं। जैसे ही पहचाना और मूल्याकन कर लिया, चेतना का तीसरा खड उत्पन्न होता है, जिसे वेदना कहा गया। वेदना अर्थात् सवेदना—सुखद भी होती है दुखद भी। जैसे ही दुखद सवेदना होती है तुरन्त उसके प्रति प्रतिक्रिया होती है, जिसे सस्कार कहा गया। यह चेतना का चौथा खड है।

सुखद सवेदना हुई। प्रिय लगी। उसके प्रति राग जागा। दुखद सवेदना हुई। अप्रिय लगी। उसके प्रति द्वेष जागा। आख, नाक, कान, जीभ, त्वचा और मन, ये जो हमारी छ: इद्रिया हैं, इन पर ज्योही सबधित विषय टकराते है, त्योही त्वरित गति से जानने, पहचानने, मूल्याकन करने, सवेदनशील होने और सस्कार बनाने का कार्य होता है। सदैव यही करते रहते हैं—राग के सस्कार बनाते हैं, द्वेष के सस्कार बनाते हैं। इसी आदत के बाहर निकलना है।

ठीक तरह से समझ लेना चाहिए कि कर्म-सस्कार के बीज कहा बनते हैं, कैसे बनते है ? चित्त का पहला हिस्सा 'विज्ञान' जो जानने का काम करता है, वह कर्म का बीज नही बनता। इसी प्रकार चित्त का दूसरा हिस्सा 'सज्ञा' जो पहचानने का काम करता है, वह भी बीज नही बनता। चित्त का तीसरा हिस्सा 'वेदना' भी बीज नही बनता। चित्त का चौथा हिस्सा 'सस्कार' जो प्रतिक्रिया करता है, वही बीज बनता है। कोई भी सपर्क चाहे आख से हो, नाक से हो, कान से हो, जीभ से हो, त्वचा से हो अथवा मन से हो, उसका प्रभाव शरीर पर होगा ही, और तब प्रतिक्रिया होगी, सस्कार बनेगा। यह सस्कार शरीर की सवेदना के आधार पर ही बनेगा।

जब सवेदना को देखना आ जायगा तो उसके प्रति न राग पैदा करेंगे, न द्वेष पैदा करेंगे, न मोह पैदा करेंगे। केवल द्रष्टाभाव से उसे देखेंगे। सवेदना सुखद हो या दुखद, वह नश्वर है, भगुर है। उसे द्रष्टाभाव से देखना है। घटे भर की साधना मे एक क्षण भी ऐसा आया तो अभ्यास करते-करते वही एक क्षण अनेक क्षण बन जायगे। अनेक सेकेण्ड बन जायगे, अनेक मिनट बन जायगे। ऐसी स्थिति भी आयेगी ही, जबकि जो कुछ हो रहा है उसको जानेंगे और जानकर प्रतिक्रिया नही करेंगे। राग नही पैदा करेंगे, द्वेष नही पैदा करेंगे। यो पलट जायगा स्वभाव राग और द्वेष के कर्म बाधने का।

सिर से पाव तक सारे शरीर मे चक्कर लगाते रहना और जहां-जहा सुखद या दुखद जो भी सवेदना हो रही है, उसे जानकर निर्लिप्त, तटस्थ रह जाना है। जो कुछ हो रहा है उसे भोगें नही, मात्र देखें। जितना-जितना द्रष्टाभाव स्पष्ट होता चला जायगा, उतना-उतना पुराना भोक्ताभाव का स्वभाव, राग-रजित द्वेष-दूषित और मोह-विमूढित रहने का स्वभाव टूटता चला जायगा और वीत-रागता, वीत-द्वेषता और वीत-मोहता दृढ होती चली जायगी। प्रज्ञा पुष्ट होगी। जहा प्रज्ञा पुष्ट होगी यानी प्रज्ञा मे स्थित होगे, वहा अनासक्त होगे ही। जीवन-मुक्त होगे ही। ०

वाणी तो वश मे भली, वश में भला शरीर।
पर जो मन वश मे करे, वही शूर वह वीर॥

शील समाधि ज्ञान ही, मगल का भण्डार।
सब सुख साधनहार है, सब दुख मेटनहार॥

शील धरम पालन भला, निरमल भली समाधि।
प्रज्ञा तो जाग्रत भली, दूर करे भव व्याधि॥

शीलवान के ध्यान से, प्रज्ञा जाग्रत होय।
अन्तर की गाठे खुले, मानस निरमल होय॥

शील समाधि ज्ञान की, बहे त्रिवेणी धार।
डुबकी मारे सो तिरे, हो भव सागर पार॥

गगा जमुना सरस्वती, शील समाधि ज्ञान।
तीनो का सगम हुआ, प्रगटे पद निर्वाण॥

पांचवां दिन

आज साधना के पाच दिन पूरे हुए। हम अन्तर्मुखी होकर अपने ही शरीर-स्कध को देख रहे हैं, चित्त-स्कध को देख रहे हैं। यह जो सिर से पाव तक चक्कर लगा रहे हैं, कोई रूढि नही पूरी कर रहे हैं। अपने आपको देखने का अभ्यास कर रहे हैं। अपने मन और शरीर के स्वभाव को देख रहे हैं। देख रहे है कि मन कितना राग-रजित है, कितना द्वेष-दूपित है और शरीर पर इसका क्या प्रभाव पड़ रहा है?

यह जो मनुष्य-जीवन को दुखी बनाने वाला रोग है, उसे समझें, उसके कारण को समझें। जीवन मे दुख तो है ही। किसी को इस बात का दुख है तो किसी को उस बात का। जीवन-जगत की यह पहली सच्चाई है। विना कारण के कुछ होता नही। दुख के पीछे कोई कारण है, यह दूसरी सच्चाई है। यदि कारण दूर कर लिया तो दुख दूर हो ही गया। यो दुख दूर करने का एक तरीका है, यह तीसरी और चौथी सच्चाइया हैं। जीवन-जगत की ये चार सच्चाइया हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण सच्चाइया हैं।

चित्त की चेतना के बारे मे हमने चर्चा की कि चेतना का एक खण्ड, विज्ञान, जानने का काम करता है। दूसरा खण्ड, सज्ञा, पहचानने का काम करता है। तीसरा खण्ड, वेदना, सवेदनशील होने का काम करता है और चौथा खण्ड, सस्कार, प्रतिक्रिया करने का काम करता है। अनुभूतियो के स्तर पर इस सारी प्रक्रिया को समझना है। जबतक जीवित हैं, सारे शरीर-स्कध पर कही-न-कही, किसी-न-किसी कारण से, कोई-न-कोई सवेदना होनी ही रहती है। इन्द्रियो के दरवाजो पर बाहर की कोई चीज टकराती है,

तो सवेदना होती है । भीतर मन और शरीर के टकराव से सवेदना होती है । अन्तर्मन की गहराइयो मे इन सवेदनाओ की वजह से जो राग-द्वेष की प्रतिक्रियाए हो रही हैं, यदि हमने उसे जाना ही नही, यदि उसका दर्शन ही नही किया तो उसे दूर कैसे कर सकेंगे ?

जीवन-जगत मे दुख है, यह स्पष्ट है । इस सच्चाई को स्वीकार करना है । लेकिन मात्र स्वीकार करना काफी नही है । इस सच्चाई का दर्शन करना है । जब हम सच्चाई का दर्शन कर लेते है, तो यह सच्चाई आर्य सच्चाई बन जाती है। जबतक दुख को भोगते हैं, दुख का सवर्धन ही करते हैं, दुख को बढाते ही हैं। जब दुख का दर्शन करने लगते है, तो दुख दूर होने लगता है । दुख सत्य, आर्य सत्य, बन जाता है । आर्य सत्य इस माने मे कि देखने वाले को आर्य बना देगा, निर्मल बना देगा, सत बना देगा, मुक्त बना देगा, शुद्ध बना देगा, बुद्ध बना देगा ।

इस साधना मे हमें इस सच्चाई का अनुभव करना है और उसे साक्षीभाव से देखना है। घटे भर एक ही आसन मे बैठे रहने से बड़ा दुख अनुभव होता है, बडी पीड़ा होती है । इस पीडा को देखना है । साक्षी-भाव से देखते-देखते यह पीड़ा कम होती जायगी और ऐसी स्थिति आयगी कि बिल्कुल समाप्त हो जायगी। परन्तु यदि इस पीड़ा को भोगते रहे, पीडा मे कराहते रहे, तो पीडा न कम होगी, न मिटेगी। उसका सवर्धन ही होगा ।

जब से मनुष्य जन्म लेता है, अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए व्याकुल रहता है। आवश्यकताओ की कोई सीमा नहीं है। बीमार होता है तो दुखी होता है। बूढा होता है तो दुखी होता है। मरता है तो दुखी होता है। देखता है कि जीवन दुख-ही-दुख है। सारे जीवन क्या चलता है ? जो प्रिय है उसका वियोग हुए जा रहा है; प्रिय व्यक्ति, प्रिय वस्तु, प्रिय स्थिति। जो अप्रिय है उसका सयोग हुए जा रहा है। अनचाही होती रहती है, मनचाही नही होती। जो कामना करता है, वह पूरी नही होती तो दुखी होता है । यह जीवन-जगत की सच्चाई है। तीव्र इच्छा यानी तृष्णा अपने आपमे व्याकुलता है । तृष्णा माने जो अपने पास है, उससे तृप्ति नही और जो नही है, उसे पाने के लिए व्याकुल हैं।

साधना करते-करते स्वय अनुभव होगा कि तृष्णा कैसे जागती है। शरीर मे जो पीडा हो रही है, वह अपने आपमे इतनी दुखदायी नही, लेकिन उसे दूर करने की तृष्णा कई गुना दुखीदायी होती है। जीवन भर यही करते आए हैं। जो अप्रिय है उसे दूर धकेलना चाहते हैं, जो प्रिय है, उसे अपनी ओर समेटना चाहते हैं। तृष्णा का दुख इस धकेलने-समेटने का ही दुख है। यह सत्य है। लेकिन वह महापुरुप इस सच्चाई पर ही नही रुक गया। और गहराइयो मे उतरा तो देखता है, "सङ्खित्तेन पञ्चुपादान खन्धा दुक्खा।" यह जो पाचो स्कधो के प्रति उपादान यानी आसक्ति पैदा कर ली, यह दुख है। ये पाच स्कध क्या हैं? एक रूप-स्कध यानी परमाणुओ का स्कध, भौतिक कलापो का स्कध—यह सारा शरीर, जिसे "मैं" कहता है, "मेरा" कहता है, उसके प्रति गहरा चिपकाव है, आसक्ति है। इसी तरह चित्त के चार स्कध—विज्ञान, सज्ञा, वेदना और सस्कार। इनके प्रति गहरा चिपकाव है। जैसे कलापो का अपना स्वभाव है वैसे ही इन चित्त-स्कधो का अपना स्वभाव है और वे अपने स्वभाव के अनुसार निरतर काम करते रहते है। लेकिन इनके साथ इतना गहरा चिपकाव पैदा कर लिया है कि मैं जान रहा हू, मैं पहचान रहा हू, मैं सवेदनशील हो रहा हू, मैं प्रतिक्रिया कर रहा हू। व्यवहार-जगत मे तो ऐसा कहना ही पडे, लेकिन हमे वास्तविकता को समझना है, सत्य को समझना है, देखना है। इसके साथ जितनी आसक्ति पैदा की है, उतना ही दुख है। आसक्ति और दुख दोनो पर्यायवाची हैं। जहा आसक्ति वहा दुख। जितनी आसक्ति उतना दुख। यह प्रकृति का अटूट नियम है।

हम चार तरह की आसक्तियो को अपने भीतर सजोए बैठे हैं। इन्हे दिन-रात बढाए जा रहे है। एक तृष्णा की आसक्ति है। तृष्णा अपने आपमे व्याकुलता बढाती है, परन्तु इसके साथ इतना चिपकाव पैदा कर लिया कि तृष्णा रहनी ही चाहिए। जिस किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति के प्रति तृष्णा जागी तो जबतक वह नही प्राप्त होती, बड़ी बेचैनी होती है, व्याकुलता होती है। परन्तु प्राप्त होने पर शीघ्र ही फीकी लगने लगती है। अब दूसरी के प्रति तृष्णा जाग उठती है। वह मिली तो

तीसरी, चौथी···। अन्त ही नही है इस तृष्णा का। बिना पेंदी की बाल्टी है, जो कभी भरती ही नही। जीवन भर यही चलता है। तृष्णा कायम रहनी ही चाहिए, क्योकि उसके साथ गहरी आसक्ति है।

एक अन्य आसक्ति है "मैं" के प्रति, "मेरे" के प्रति। जानते ही नही कि "मैं" क्या है, "मेरा" क्या है। फिर भी इस "मैं" के खिलाफ, "मेरे" के खिलाफ, कोई एक शब्द नही कहे। किसी ने कुछ कहा तो बडी व्याकुलता होती है, बडा दुख होता है। जिसे "मेरा" कहा, उसका विछोह होते ही दुख होता है। आसक्ति जो है। आसक्ति दुख ही लाती है।

एक अन्य आसक्ति होती है, अपने दर्शन के प्रति, अपनी परम्परागत मान्यता के प्रति। इस आसक्ति को लेकर मनुष्य खूब बहस करता है, विवाद करता है, लडता है, झगडता है, व्याकुल रहता है।

एक और आसक्ति अपने-अपने कर्म-काण्डो के प्रति होती है। यह आसक्ति भी कम व्याकुल नही करती।

इन चार आसक्तियो पर ध्यान देंगे तो देखेंगे कि जब-जब दुख होता है, इन चारो मे से कोई-न-कोई आसक्ति ही उसका कारण होती है। परन्तु वह महापुरुष, जो सम्यक् सबुद्ध बना, उसे तो कारण की जडो तक पहुचना था। अनुसधान चालू रहा। कार्य-कारण-शृखला की एक-एक कडी का निरीक्षण करते हुए जडो तक जा पहुचा।

जीवन मे दुख तो है ही। "जाति पच्चया जरा मरण सोक परिदेव दुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति।" जन्म हो गया तो बुढापा, बीमारी, मृत्यु आयगी ही। शोक, बेचैनी, परेशानी आयगी ही। पर जन्म क्यो हुआ? बिना कारण तो इस जगत मे कुछ भी नही होता। जन्म के लिए माता-पिता का सयोग आवश्यक है, जो प्रकृति का एक नियम है, लेकिन इसके अतिरिक्त यह समझें कि जीवन-धारा किस प्रकार चलती है? "भव पच्चया जाति।" यह "भव-भव" कुछ बनता ही जा रहा है। मृत्यु के साथ बात समाप्त नही होती। मृत शरीर मे भी परिवर्तन होते जा रहा है और यह चेतना की धारा तुरत किसी दूसरे शरीर से जुड जाती है। फिर क्षण-क्षण बनती है, बिगडती है। इस प्रकार यह क्रम चलता ही रहता है। तो यह भव क्यो होता है? अनुभूतियो से देखने पर एकदम

समझ मे आ गया—"उपादान पच्चया भवो।" यह आसक्ति ही भव का कारण है। जितनी गहरी आसक्ति होगी, उतना गहरा भव-कर्म होगा। तो यह उपादान क्यो होता है ? उसका क्या कारण है ? अनुभूतियो द्वारा तुरत मालूम हुआ—"तण्हा पच्चया उपादान।" तृष्णा यानी यह राग और द्वेष ही उपादान के कारण हैं। तृष्णा क्यो पैदा होती है ? स्पष्ट हुआ कि "वेदना पच्चया तण्हा।" सारे शरीर-स्कध पर जहां सवेदना होती है, वहा तृष्णा जागती है। सुखद सवेदना हो तो राग और दुखद सवेदना हो तो द्वेष। वेदना होने का क्या कारण है ? "फस्स पच्चया वेदना।" वेदना स्पर्श से होती है। इन छह इद्रियो के द्वारो पर इनके विषयो से स्पर्श होते ही सवेदना होती है। तो यह स्पर्श क्यो होता है ? "सळायतन पच्चया फस्स"। यह छह इद्रियो के दरवाजे खुले रहते हैं, इन पर स्पर्श होता है। तो यह छह इद्रिया कहा से आयी ? बात स्पष्ट हो गयी "नाम-रूप पच्चया सळायतन।" नाम-रूप की वजह से ये छह इद्रिया आयी। यह नाम-रूप क्या है ? नाम यानी मन और रूप यानी शरीर। इन दोनो की मिली-जुली जीवन-धारा जैसे ही शुरू हुई, छह इद्रियो को लेकर ही शुरू हुई। तो यह नाम-रूप क्यो हुआ ? "विञ्ञाण पच्चया नाम-रूप।" विज्ञान से नाम-रूप हुआ। यह विज्ञान यानी चेतना जो एक जीवन समाप्त होते ही उसके साथ समाप्त हो जाती है, पर अगले जीवन मे फिर किसी अन्य शरीर के साथ नयी उत्पन्न हो जाती है। समाप्त होते ही अगले क्षण नया विज्ञान उत्पन्न हो जाता है। उसका स्वभाव है क्षण-प्रतिक्षण उत्पन्न होकर आगे बढना। यह विज्ञान क्यो होता है ? "सङ्खार पच्चया विञ्ञाण।" हर सस्कार नया विज्ञान पैदा करता है। जैसे-जैसे साधना की गहराइयो मे जायगे, मालूम होगा कि हर सस्कार नया विज्ञान यानी अगले क्षण की नई चेतना पैदा करता है। ये सस्कार कैसे बनते हैं ? "अविज्जा पच्चया सङ्खारा।" अविद्या से ही सस्कार बनते हैं। अविद्या का अर्थ है अज्ञान, बेहोशी, विमूढता। इस प्रकार सारा रहस्य खुल गया। जड तक बात समझ मे आ गयी।

अविज्जा-पच्चया सङ्खारा, सङ्खार-पच्चया विञ्ञाण,
विञ्ञाण-पच्चया नामरूप, नामरूप-पच्चया सळायतन,
सळायतन-पच्चया फस्सो, फस्स-पच्चया वेदना,
वेदना-पच्चया तण्हा, तण्हा-पच्चया उपादान,
उपादान-पच्चया भवो, भव-पच्चया जाति,
जाति-पच्चया जरामरण-सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति ।

एवमे तस्स केवलस्स, दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति ॥

देख लिया कि किस प्रकार यह दुख का पहाड़ खड़ा होता है। सारा खेल समझ मे आ गया। यह अविद्या, यह वेहोशी, ही दुख का मूल कारण है। इस अविद्या को जड़ से काटें :

अविज्जाय त्वेव असेस विराग-निरोधा, सङ्खार-निरोधो,
सङ्खार-निरोधा, विञ्ञाण-निरोधो,
विञ्ञाण-निरोधा, नाम-रूप-निरोधो,
नामरूप-निरोधा, सळायतन-निरोधो,
सळायतन-निरोधा, फस्स-निरोधो,
फस्स-निरोधा, वेदना-निरोधो,
वेदना-निरोधा, तण्हा-निरोधो,
तण्हा-निरोधा, उपादान-निरोधो,
उपादान निरोधा, भव-निरोधो
भव-निरोधा, जाति-निरोधो,
जाति-निरोधा, जरामरण-सोक-परिदेव-दुक्ख दोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति ।

एवमेतस्स केवलस्स, दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होति 'ति ॥

कारण का निवारण समझ मे आ गया। कितना भी बड़ा दुखो का पहाड़ क्यो न खडा कर लिया हो, सारा-का-सारा समाप्त हो जायगा। अविद्या को जड से उखाड़ना सीखें। कैसे उखाड़ें ?

दुख को देख लिया। दुख के कारण को देख लिया, अविद्या की शृंखला देख ली। जीवित हैं तो नाम-रूप की धारा चलेगी ही। इंद्रिया भी अपना काम करेंगी ही। स्पर्श भी होगा ही। सवेदना भी होगी ही। और जब-जब सवेदना होगी, पुराने स्वभाव के कारण तृष्णा जागेगी। सुखद होगी तो राग की, दुखद होगी तो द्वेष की। बस, यही रोक लगानी होगी। वेदना तो हो, लेकिन "वेदना पच्चया तण्हा" के स्थान पर "वेदना पच्चया पञ्ञा" हो, प्रज्ञा जागे। हर वेदना के साथ प्रज्ञा जागेगी तो अविद्या के कारण जो दुख-चक्र चल रहा था, वह पलट जायगा धर्म-चक्र मे। क्या है धर्म-चक्र? जब-जब वेदना जागे, हर वेदना प्रज्ञा जगाए—अनित्य है, नश्वर है। देख तो सही इसे। राग मत पैदा कर। द्वेष मत पैदा कर। जितनी देर हर सवेदना के साथ प्रज्ञा जागती है, नए सस्कार नही बनते। इतना ही नही, पुराने सस्कार भी कटने लगेंगे।

"खीण पुराण नव नत्थि सभव।" नया नही बनने पायगा और पुराना क्षीण हो जायगा। उस महापुरुष ने प्रकृति के इस कानून को, विधान को, देख लिया। नया बनाना बद किया तो पुराना क्षीण पड़ने लगा। क्षीण होते-होते एक ऐसी अवस्था पर पहुच गया कि सारे पुराने भव-सस्कार क्षीण हो गए। प्रज्ञा को जगाते-जगाते चित्त नितात निर्मल हो गया। नितात विमुक्त हो गया। शुद्ध-बुद्ध हो गया। उस समय जो हर्ष के उद्गार निकले वे बड़े महत्व के हैं:

अनेक-जाति-ससार, सन्धाविस्स अनिब्बिसं।
गहकार गवेसन्तो, दुक्खा जाति पुनप्पुन।
गह कारक दिट्ठोसि, पुन गेह न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकूट विसङ्खित।
विसङ्खारगत चित्त, तण्हान खयमज्झगा॥

कितनी बार जन्म लिया इस ससार में, गिनती ही नही। जन्म लेता गया और बिना रुके (मृत्यु की ओर) दौड लगाता गया। इस कायारूपी घर बनाने वाले की खोज करते हुए पुन-पुन दुखमय जीवन मे पडता रहा। अब घर बनाने वाले को देख लिया। अब नया घर नही बना सकेगा। सारी कड़िया भग्न हो गयी। घर का शिखर टूट गया। घर

वनाने की सारी सामग्री तोड़-फोड़कर फेंक दी गयी। चित्त पूर्व संस्कारो से विहीन हो गया। भविष्य के लिए कोई तृष्णा नही रह गई। तृष्णा का समूल नाश हो गया। विमुक्त हो गया।

हर व्यक्ति ऐसा कर सकता है। हर व्यक्ति इस अवस्था तक पहुच सकता है। पर काम करना होगा। काम स्वय ही करना होगा। ●

आठ अंग का आय पथ, शुद्ध धरम का पथ ।
कदम-कदम चलते हुए, दुर्जन होवे संत ॥

पचशील पालन भला, निरमल भली समाधि ।
प्रज्ञा तो जागी भली, दूर करे भव व्याधि ॥

मन के करम सुधार ले, मन ही प्रमुख प्रधान ।
कायिक वाचिक करम तो, मन ही की सतान ॥

मन ही दुर्जन मन सुजन, मन बैरी मन मीत ।
जीवन मे मगल जगे, जब मन होय पुनीत ॥

जैसी चित की चेतना, फल वैसा ही होय ।
दुर्मन का फल दुखद ही, सुखद सुमन का होय ॥

जबतक मन मे राग है, जबतक मन मे द्वेष ।
तबतक दुख ही दु.ख है, मिटे न मन के क्लेश ॥

छठा दिन

साधना के छह दिन पूरे हुए। हमारी सफलता इसी बात पर निर्भर है कि विधि को ठीक-ठीक समझते हुए आगे बढ़ें। आओ, आज फिर समझें यह विधि कैसी है ? इसका क्या अनूठापन है ? क्या अनोखापन है ?

इस विधि के दो पक्ष हैं, दो पहलू हैं। दोनो अत्यंत आवश्यक हैं। अत्यत महत्व के हैं। ये पक्ष हैं समथ और विपश्यना। पहले का अर्थ है— चित्त की ऐसी एकाग्रता, सूक्ष्मता, तीक्ष्णता कि वह गहराइयो तक सच्चाई को जान ले। दूसरे का अर्थ है—तटस्थता यानी इसे जानकर जरा भी विचलित न हो। न खुशियो मे नाचने लगे, न दुख मे रोने लगे। सतुलन रखे। जाने भी और समता मे भी रहे। जिस अवस्था को नही जान रहे हैं, उसे पहले जानें और फिर समता मे स्थापित हो।

यानी तटस्थ रहकर जानें। तटस्थ किसे कहते हैं ? नदी के तट पर बैठे हैं और नदी के प्रवाह को देख रहे हैं। जो प्रवाह अपने स्वभाव से गतिमान है, उसे देख रहे हैं। ठीक इसी तरह सिर से पाव तक हमारे शरीर मे जो कुछ स्वभाव से हो रहा है, उसे जानना है। जैसे नदी के प्रवाह मे कई तरह के पदार्थ और तरगें आती है, वैसे ही हमारे शरीर मे भी सवेदनाए आती है। ये सवेदनाए आती हैं, जाने के लिए ही आती हैं, और चली जाती है। जिस तरह तटस्थ होकर नदी के प्रवाह को देखते हैं, उसी तरह साक्षीभाव से शरीर को देखना है।

आत्म-दर्शन सबधी किसी बात को केवल इसलिए नही मान लेना है कि इसे किसी महापुरुष ने कहा है। अनुभूति पर उतरे तभी मानना

है। जानो तब मानो। जानकर मानना अपने आपको सुधारना है। बिना जाने मानना अपने आपको उलझाना है। अनुभूतियो द्वारा प्रत्यक्ष साक्षात्कार करें। परोक्ष ज्ञान बाधता है, प्रत्यक्ष ज्ञान खोलता है। उस महापुरुष को सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हुई तो उसने देखा कि ससार के लोग अपने ज्ञान के कारण बुद्धि-विलास मे उलझे हैं, भटके हुए हैं। यदि यह सामान्य-सी कुदरत की बात अनुभूतियो से समझ लेंगे तो बडा कल्याण होगा। उलझन क्या है ? प्रत्यक्ष ज्ञान नही करें, प्रत्यक्ष दर्शन नही करें, लेकिन परोक्ष ज्ञान की इतनी चर्चा करें कि सारा जीवन चर्चा मे बिता दें। यह बड़ी उलझन है।

कौतूहल मगल का एक नशा होता है। कौतूहल पूरा करें और उसी मे अपना मगल मानें। लेकिन कौतूहल कहा पूरा होता है ? आज एक कौतूहल पूरा हुआ कि कल दूसरा सिर उठायगा। दूसरा पूरा हुआ कि तीसरा सिर उठायगा। जैसे तृष्णा का अन्त नही होता, वैसे ही कौतूहल का भी अन्त नही होता। कौतूहल पूरा करने के लिए बुद्धि-विलास ही करते है। दर्शन की केवल बात करते हैं, जबकि दर्शन का अर्थ है साक्षात्कार, जो केवल अनुभूति से ही प्राप्त होता है। लेकिन दर्शन को फिलासफ़ी बनाकर कोरे ज्ञान की चर्चा मे उलझे रहते हैं। और करने लगते हैं वाद-विवाद, बहस और झगड़े। सारी निकम्मी बातें।

उस महापुरुष ने केवल काम की ही बात की। जब अन्तर्मुखी होकर स्वयं को देखा और विभाजन करते-करते उस नन्हे 'कलाप' तक पहुच गया तो पाया कि इसमे चार महाभूत हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, अपने-अपने गुण, धर्म और स्वभाव के साथ। पृथ्वी धातु से यह न समझ लें कि कोई मिट्टी का कण होगा। जल धातु कहा जाय तो उससे पानी की बूद न ढूढ़ने लगें। इसी प्रकार अग्नि धातु कहे तो कोई चिनगारी नही ढूढने लगें। वायु धातु कहने पर कोई हवा का झोका न खोजने लगें। देखना है इन धातुओ के नैसर्गिक गुणो को, नैसर्गिक धर्म को। पृथ्वी धातु का नैसर्गिक गुण, धर्म, स्वभाव क्या है ? पृथ्वी धातु आकाश को घेरती हैं। फैल करके घेरती है और आकाश से घिर जाती है।

उसका किस प्रकार अनुभव किया जाय ? भारी है, हल्का है। हल्के-से-हल्के को लेकर भारी-से-भारी तक का वजन का सारा क्षेत्र पृथ्वी धातु को अनुभव करने का क्षेत्र है। अग्नि धातु का क्षेत्र है शीतल-से-शीतल और गर्म-से-गर्म तक की अवस्था। यानी तापमान का पूरा क्षेत्र अग्नि धातु का क्षेत्र है। इसी प्रकार हलन-चलन का सारा क्षेत्र वायु धातु का क्षेत्र है और जल धातु का क्षेत्र है नमी द्वारा बाधना, सयोजित करना, सश्लिष्ट करना।

विपश्यना का अभ्यास करते हुए हमे शरीर मे विभिन्न प्रकार की सवेदनाओ की अनुभूतिया होती हैं। जब कभी पृथ्वी धातु प्रबल होकर आती है तो कही भारी लगता है, कही हल्का लगता है। जब वायु धातु प्रबल होकर आती है तो किसी प्रकार की हलन-चलन, तरग या धडकन का अनुभव होता है। हरएक धातु अपने-अपने स्वभाव को प्रकट करती है। इसी शरीर-स्कध के परमाणु-समूह मे चारो महाभूत समाये हुए हैं। इन चारो महाभूतो मे से जब एक प्रबल होकर आयगा तो अपने गुण, धर्म, स्वभाव को प्रकट करेगा और उसे ही हम संवेदनाओ के रूप मे अनुभव करेंगे। अन्य सुषुप्त रहेगे। कभी यह भी होता है कि महाभूत एक साथ प्रकट होकर आते हैं तो दोनो के गुण, धर्म, स्वभाव का अनुभव होता है। लेकिन ऐसा नही होता कि चारो एक साथ प्रबल होकर उठें।

बाहर की दुनिया मे भी हम यही देखते हैं। कही ठोस बर्फ है तो उसे पृथ्वी धातु कहें। जब बर्फ पिघलकर तरल हो गयी, पानी बन गयी तो उसे ही जल धातु कहे, भाप बनकर हवा बन गयी तो उसे वायु धातु कहे और तीनो ही अवस्था मे उसमे तापमान है, सर्द है तो उसे अग्नि धातु कहे।

इसी प्रकार भीतर भी हमे धातुओ की अनुभूति होती है। उसे साक्षीभाव से देखें। यह शरीर का रसायन है। इसमे कभी इस प्रकार के कलाप, कभी उस प्रकार के कलाप अपने-अपने गुण, धर्म, स्वभाव लिये हुए उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते है। प्रकट होते हैं जाने के लिए ही। प्रकृति के इस खेल को, इस प्रपच को समझें। यदि इसे भोगने लगेंगे तो राग और द्वेष के नए सस्कार बनने लगेंगे। अज्ञान है तो ही भोगते हैं। भोगते

हैं तो ही बधते हैं। ज्ञान जग जाय, बोधि जग जाय, बात समझ मे आ जाय, तो यही खुलने का उपाय बन जाय।

हम यह भी समझें कि यह जो भिन्न-भिन्न स्वभाव के परमाणु प्रमुख होकर सामने जाते हैं, उनका क्या कारण है ? बिना कारण ससार मे कुछ नही होता। चार मोटे-मोटे कारण हैं इनके। एक मोटा कारण तो यह है कि इन परमाणुओ के पुज को यानी अपने शरीर को जो हम भौतिक आहार देते हैं, जैसा भोजन देते हैं, आहार देते है, वैसे ही परमाणु बनेंगे। ज्यो-ज्यो सवेदनाओ को देखने मे साधक पुष्ट होगा, यह बात अपने अनुभव से ठीक तरह से स्पष्ट होने लगेगी। किसी दिन यदि बहुत मिर्च-मसाले का भोजन कर लिया तो ध्यान के समय सारे शरीर मे जलन महसूस होगी। आयी अग्नि धातु अपना प्रभाव लेकर। किसी दिन बासी भोजन कर लिया या तला हुआ गरिष्ठ भोजन कर लिया तो बहुत भारीपन महसूस होगा ध्यान के समय। यह पृथ्वी धातु का प्रकटीकरण है। यदि हम स्वस्थ भोजन करें तो शरीर के सारे परमाणु, शरीर का सारा गठन, सारी रचना भी स्वस्थ होगी। यदि अस्वस्थ भोजन करें तो शरीर की रचना भी अस्वस्थ होगी। जो आहार दे रहे हैं, वह शरीर मे परमाणुओ की उत्पत्ति का एक मोटा कारण है।

शरीर मे परमाणुओ के निर्माण का एक अन्य कारण भी है। इस भौतिक आहार के अतिरिक्त हम अपने शरीर के पोर-पोर से निरन्तर आहार ग्रहण कर रहे हैं, जो हमे बाह्य वातावरण से मिलता है। जैसा बाहर का वातावरण होगा, वैसा ही आहार मिलेगा और वैसे ही भीतर परमाणु बनेंगे। हमारी इस शरीर-धारा को ये दो आहार मिलते ही रहते हैं। इस शरीर धारा यानी रूप-धारा के साथ एक अन्य धारा चित्त की यानी "नाम" की भी चलती है। यह चेतना की धारा भी बिना आहार के आगे नही चलती। इसे चेतना का ही आहार मिलता है। चेतना का यह आहार क्या है ? जिस क्षण हम जो सस्कार बनाते हैं, चेतना की धारा का उस क्षण का वही आहार है, वही भोजन है। अनुभूतियो के स्तर पर इस सारे खेले को देखेंगे। क्रोध आया कि अगले क्षण का चित्त उसी क्रोध की सतान होगा। अगले क्षण फिर क्रोध का

सस्कार जागा तो इस क्रोध के आहार पर यह चित्त-धारा चलती रही। वासना जागी तो देर तक वासना के आधार पर ही चित्त-धारा आगे बढती रही। प्रतिक्षण यही होता रहा। इसे प्रतिक्षण आहार चाहिए बढने के लिए। यदि नया आहार नही मिला, नया सस्कार नही बनाया गया तो पुराने सस्कार जो भरे पड़े हैं, वे उखडने लगते है। पुराने जो बीज डाले हैं, उनमे से कोई-न-कोई पककर फल देता है। चित्त-धारा पर फल आता है, और चित्त-धारा फिर आगे चलने लगती है। और ज्योही फल उभरकर आता है, उसमे एक प्रकार की सवेदना पैदा होती है। यदि हमने उसे प्रिय मान लिया तो फिर बना लिया राग का नया सस्कार। अप्रिय मान लिया तो फिर बना लिया द्वेष का नया सस्कार। ज्योही पुराने बीज का फल उभरकर आया त्योही नए बीज डालने लगे। इस प्रकार नए सस्कार बनाते ही चले जाते हैं—"सङ्खार पच्चया विञ्ञाण।" इसक्षण के सस्कार से ही अगले क्षण का विज्ञान यानी चित्त उत्पन्न होता है। इस क्षण सस्कार न बने तो किसी पूर्व सस्कार से नया विज्ञान यानी चित्त उत्पन्न होता है। जैसे-जैसे साधना मे आगे बढेंगे, यह सारा रहस्य स्पष्ट होने लगेगा। जिस प्रकार का नया सस्कार डालेगे अथवा पुराने का फल जागेगा, उसी प्रकार के परमाणु उत्पन्न होने शुरू हो जायगे और वैसी ही सवेदना होगी।

मन और शरीर का बडा गहरा सम्बन्ध है। ये जो कलाप हैं, वे शरीर और चित्त दोनो से उत्पन्न होते हैं। यदि चित्त पर क्रोध आया तो शरीर मे अग्नि प्रधान परमाणु बन रहे हैं, जले जा रहे हैं। भय आया तो सारा शरीर कपित हो रहा है, वायु प्रधान परमाणु उत्पन्न होते हैं। चित्त पर जैसे सस्कार डाल रहे है, वैसे ही परमाणु उत्पन्न होते हैं। यदि क्रोध का कोई पुराना सस्कार जागा हो तो जलन वाले परमाणु ही उठते हैं। वर्तमान वातावरण मे सर्दी हो तो भी शरीर मे जलन, गर्मी महसूस होती है।

शरीर मे जो परमाणु उत्पन्न हो रहे हैं वे चाहे भोजन के कारण हो, बाह्य वातावरण के कारण हो या पुराने सस्कारो के कारण हो, यदि उन्हे द्रष्टाभाव से, तटस्थभाव से देखने लगेंगे तो नए सस्कार नही

बनायगे। पुराने दूर होने लगेंगे। बस गाठें खोलने का रास्ता मिल गया। अबतक जो अविद्या के कारण सस्कार बनते थे, उनका सारा रहस्य समझ मे आने लगेगा। "अविज्जा पच्चया सङ्खारा।" जैसे कोई परमाणु उठा, उसने अपना स्वभाव प्रकट किया किसी सवेदना के रूप मे, दुखद सवेदना हो तो प्रतिक्रिया हुई नही चाहिए, नही चाहिए—द्वेष-ही-द्वेष की। सुखद सवेदना हो तो चाहिए-चाहिए की, राग-ही-राग की। इस प्रकार प्रतिक्षण सस्कार बनते ही रहते हैं। बात समझ मे आ जाय तो प्रतिक्रिया न करें। धीरज से, समता, से दृष्टाभाव से, सवेदना के स्वभाव को देखें। तो नया सस्कार बन ही नही सकता। और पुराने सस्कारो का क्षय होने लगता है। "खीण पुराणं नव नत्थि सभव।" बस काम की बात हो गयी। बधन खोलने का तरीका मिल गया। लेकिन बधन खोलने का यह कार्य स्वय को ही करना पडेगा। यदि स्वय अनुभूति के स्तर पर यह जाना ही नही कि कब राग जागा, कब द्वेष जागा तो राग और द्वेष से छुटकारा कैसे मिलेगा ? जब-जब सवेदना का अनुभव हो—सुखद या दुखद और उसे जानें तथा दृष्टाभाव बनाए रखें तो उसके प्रति राग नही जागेगा, द्वेष नही जागेगा। प्रज्ञा ही जागेगी। "वेदना पच्चया पञ्ञा", यो प्रज्ञा मे पुष्ट होते-होते स्थितप्रज्ञ हो ही जायगे। जीवनमुक्त हो ही जायगे। केवल स्थितप्रज्ञता का पाठ करने से मुक्त नही होगे। स्वय परिश्रम करना होगा। रास्ते मे कठिनाइया अवश्य आयेंगी। लेकिन उन्हें हमे ही दूर करना है। कोई चमत्कार नही होने वाला।

इस अज्ञान के, मूढता के, बुद्धि-विलास के स्वभाव को कैसे बनाया ? बार-बार एक ही प्रकार का व्यवहार करते-करते स्वभाव बन गया। राग पैदा करने का स्वभाव, द्वेष पैदा करने का स्वभाव। इस स्वभाव को पलटने मे भी तो समय लगेगा ही। लेकिन जब यह मालूम हो जाय कि स्वभाव पलटा जा सकता है तो बहुत बड़े लाभ की बात हो जाय। फिर तो स्वभाव को पलटने का अभ्यास करना है और यही कर रहे हैं। किसी घटना के घटने पर, अध प्रतिक्रिया करने के बजाय, देखने का अभ्यास कर रहे हैं। जब समता भरे भाव से देखने लगेंगे तो अन्ध राग, अध द्वेष पैदा नही होगा। समता मे स्थिर हैं तो क्रिया करेंगे, प्रति-

क्रिया नही होगी। क्रिया हमेशा रचनात्मक होती है, विधेयात्मक होती है, कल्याणकारी होती है।

अपने स्वभाव के पलटने के अभ्यास मे समय लगेगा। कठिनाइयां आयगी, बाधाए आयगी। उन्हे स्वीकार करना होगा। हमारे इस प्रयत्न मे पाच बड़ी बाधाए है, पाच बड़े दुश्मन हैं। उन्हे पहचानें। उनके प्रति सजग रहे। बाहर के दुश्मन होते तो सजग रहना आसान हो जाता। लेकिन ये पाचो भीतर के दुश्मन हैं। न जाने कब सिर पर सवार हो जाय, पता ही नही लगता।

पहला दुश्मन है राग, दूसरा द्वेष। हम साधना कर रहे हैं राग और द्वेष निकालने की, लेकिन नासमझी मे साधना करते-करते राग और द्वेष मे ही उलझने लगते है। हमे अमुक-अमुक सवेदना चाहिए, अमुक-अमुक सवेदना नही चाहिए। यही राग-द्वेष मे उभलना है। इससे बचना चाहिए। अन्य दो दुश्मन हैं—आलस्य और बेचैनी। साधना करते समय बडा आलस्य आने लगता है, नीद आने लगती है। कभी बडी बेचैनी होती है। साधना मे मन ही नही लगता। साधना के अलावा अन्य काम करने को जी चाहता है और साधक दिन भर अन्य प्रकार की प्रवृत्तियो मे उलझा रहता है। अन्य काम करेगा, पर साधना नही करेगा। पाचवा दुश्मन है—सदेह। मन मे विचार उठेगा कि यह क्या साधना है ? सास को देखो, सास को देखो ! क्या देखें सास को ? सांस तो आता-जाता ही है। फिर गर्मी को देखो, सर्दी को देखो ! इन्हे क्या देखें ? ये तो मौसम की वजह से हैं। इस तरह मन मे शका होगी और साधना छूट जायगी।

किसी बात को अध-विश्वास से नही मानना है। साधना-विधि के बारे में मन मे शंका उठे तो तत्काल मार्ग-दर्शक से मिलकर समाधान करा लेना चाहिए। भले अनेक बार मिलें, पर अपनी शकाओं का निवारण कर लें। इन पाचों दुश्मनो से बचें, सचेत और सजग होकर काम मे लगे रहें। ●

तीन बात बन्धन बधे, राग द्वेष अभिमान।
तीन बात बन्धन खुले, शील समाधि ज्ञान ।।

रोग समझ पाया नही, समझा नही निदान।
रोग भला कैसे मिटे ? कैसे हो कल्याण ?

दुःख समझ पाया नही, समझा नही निदान।
दुःख भला कैसे मिटे ? कहां मोक्ष ? निर्वाण ?

तृष्णा जड़ से खोद कर, अनासक्त बन जाय।
दुख-बन्धन से छुटन का, यह ही एक उपाय ।।

देखो अपने आपको, समझो अपना आप।
अपने को जाने बिना, मिटे न भव संताप ।।

क्षण-क्षण जाग्रत ही रहे, शुद्ध सत्य का बोध।
मन की समता स्थिर रहे, तो ही दुक्ख-निरोध ।।

सातवां दिन

साधना के सात दिन पूरे हुए। अब तो तीन ही दिन शेष रह गए हैं। अभ्यास की गहराई मे उतरने के लिए तीन दिन भी पर्याप्त हैं।

इस मार्ग पर एक महत्वपूर्ण बात समझते हुए चलना चाहिए कि अभ्यास की निरन्तरता ही सफलता की कुजी है। जितनी-जितनी निरन्तरता होगी, उतनी गहराइयो मे उतरते चले जायगे।

जो काम कर रहे हैं, वह इतना सरल है, इतना सीधा है। कोई गूढ रहस्य नही है। कोई शरीर की कसरत भी नही है, जो एक सामान्य व्यक्ति न कर सके। सीधी-सी बात है। अपने सास को देखना शुरू किया। सास को देखते-देखते सास का स्पर्श सामने आने लगा। सास के स्पर्श को देखने लगे। फिर कोई सवेदना सामने आने लगी। सवेदना को देखने लगे। फिर शरीर के भीतर जो और सूक्ष्म अवस्थाएं हैं, उनकी अनुभूति होने लगी। यह निरतरता का ही फल है। अनुभूतियो को और गहराइयो तक जाने के लिए, यह निरतरता बहुत काम देती है। लेकिन पुरानी आदत के अनुसार हम किसी भी काम मे आवश्यक निरन्तरता देना ही नही चाहते। कुछ देर कर लिया, फिर छोड़ दिया। यदि साधना मे भी यह बात होने लगी तो मन ऊपर-ऊपर सतह तक ही रह जायगा। गहराइयो तक पहुच ही नही पायगा।

इसीलिए बात करने पर रोक लगाते है। आर्य-मौन दिया जाता है। क्या होता है यह आर्य-मौन ? जबान बन्द कर दी तो केवल वाणी का मौन हुआ। आर्य-मौन मे तो काया का भी, वाणी का भी और मन का भी मौन। तीनो को मौन करना है। निरन्तरता बनाये रखने के लिए

आर्य-मौन आवश्यक है। वाणी और काया का मौन रखेंगे तो ही मन मौन होगा।

अब ये तीन दिन शेष बचे हैं—उनमे साधना की निरन्तरता को बढाना है। अब तो चौवीस घटे मौन रहकर साधना ही करनी है। जितनी देर आख बन्द करके अभ्यास करने का समय है, उतनी देर अपने-अपने स्थान पर आख बन्द करके ध्यान करेंगे ही, बाकी जो छुट्टी का समय है—जब चल रहे हैं, स्नान कर रहे हैं, चाय-दूध ले रहे हैं, भोजन कर रहे है, तो जो कर रहे हैं, उसे जानेंगे और उसके साथ-साथ शरीर के जिस भाग मे हलन-चलन हो रही है, उसकी सवेदना भी जानेंगे, अथवा आराम कर रहे हैं, बैठे है तो भी आखें खुली हैं, पर जान रहे हैं कि भीतर क्या हो रहा है। मन सजग है, जागरूक है, सचेत है। जो हो रहा है, उसे जान रहे हैं। रात हुई, बिस्तर पर लेटे। रात सोने के लिए है। लेट गए, आखें बन्द कर ली। लेकिन सोने के पहले शरीर मे अनित्य बोध का चैतन्य फिर जगा लिया। चैतन्य रहते-रहते नीद आ गयी। अच्छी बात। सुबह आख खुलेगी तो इस चैतन्य के साथ ही। बहुधा ऐसे भी होने लगता है कि लेटे हैं, भीतर का चैतन्य जाग रहा है। थोडी-सी नीद आ रही है, थोडी-सी जागृति है। ऐसा होते-होते सारी रात बीत जाती है। आधी-सी नीद, आधी-सी जाग। कभी-कभी तो पूरी जागृति मे सारी रात बीत जाती है। नीद का नामोनिशान नही। लेकिन यदि सारी रात अनित्य-बोध के चैतन्य मे जागते रहे तो जब सुबह उठेंगे, बड़ा हल्कापन महसूस होगा, जैसे गहरी नीद से उठे हैं।

हमने शरीर को लिटाए रखा और पूरा आराम दिया उसे। मन को भी आराम चाहिए। मन को इससे बढकर कोई आराम नही मिलता कि वह समता मे स्थित रहे। जितना आराम एक गहरी नीद से प्राप्त होता है, उससे कही ज्यादा आराम उसे समताभरी जाग्रत अवस्था मे प्राप्त होता है। इसीलिए कहते हैं, "दुनिया सोती है, योगी जागता है।" कैसे जागता है? इस चैतन्य मे ही जागता है। उसको नीद की जरूरत नही होती। जो मन वर्तमान स्थिति को केवल दृष्टाभाव से देख रहा है, उसे बड़ा आराम मिल रहा है। जो मन वर्तमान स्थिति से उत्तेजित हो

रहा है, व्याकुल हो रहा है, अपना सतुलन खो रहा है, उसे शाति कहा। भारीपन आयगा ही। यही तो साधना है कि मन का सतुलन न विगडने दें। सारी स्थितियो को तटस्थ भाव से, दृष्टाभाव से, देखते जाय। परतु जोर-जवरदस्ती जागने का प्रयत्न नही करेंगे। यदि कुदरतन नीद आती है तो आने देंगे। यदि अपने आप जाग वनी रहती है तो बनी रहने देंगे। निरन्तर जागृति, निरन्तर-जागृति, अन्त.चेतना की जागृति। एक-एक अणु जो जाग्रत हो उठा है उसके नर्तन को देखेंगे। कहा क्या हो रहा है? कैसे हो रहा है? दृष्टाभाव से देखेंगे। अनित्य स्वभाव को देखेंगे। यही साधना है।

इस अभ्यास मे दो प्रमुख काम हैं। इनको ठीक से समझ लें। हमारा स्थूल मन स्थूल सच्चाइयो को खूब पकड लेता है, परन्तु जहा सूक्ष्म को पकडना होता है, वहा कतराने लगता है। दूर भागता है। पकड़ना नही चाहता। सूक्ष्मता मे रहने की आदत ही नही। अत. पहला काम तो यह कि इसे सूक्ष्मता मे ले जाने का अभ्यास करवायें। इसीलिए आरम्भ स्थूल आलबन से किया। मोटे-मोटे सास का आलवन और उसके सहारे सूक्ष्म सास पर आ गए। सूक्ष्म सास भी वडा स्थूल लगने लगा, जब हमे सास का स्पर्श मालूम होने लगा। यह स्पर्श भी स्थूल लगने लगा, जव सवेदना महसूस होने लगी। यह सवेदना भी स्थूल लगने लगी, जवकि उससे भी अधिक सूक्ष्म सच्चाइया महसूस होने लगी। जैसे-जैसे समय वीतेगा और अभ्यास मे पुष्ट होने लगेंगे, अधिक-से-अधिक गहराइयो मे चले जायगे। यह जो स्थूल अवस्था से सूक्ष्म अवस्था की ओर जाने की यात्रा है, वह यथार्थ की यात्रा है, कल्पनाओं की नही। ऐसा यथाभूत जिसका शरीर और मन मे सवध है और जो शरीर और मन मे वस्तुतः हो रहा है, उसे जान रहे हैं। यह पहला काम हुआ।

दूसरा इससे वड़ा काम है समता का। हर अवस्था मे से मन गुजर रहा है। अलग-अलग अनुभूतियो मे से मन गुज़र रहा है और उन अवस्थाओ को, उन अनुभूतियो को, दृष्टाभाव से देख रहा है। ज्ञाताभाव से देख रहा है उन परिस्थितियो को, उन अनुभूतियो को न तो अच्छा

मानकर खुशियो से नाचने लगता है, न बुरा मानकर व्याकुल होने लगता है। अपना सतुलन कायम रखता है। समता बनाए रखता है। यह समझते हुए कि जो अनुभूति हो रही है, वह स्थायी नही है, स्थिर नही है, शाश्वत नही है, ध्रुव नही है। जो सुबह हो रहा था, वह शाम को नही है। इतना ही नही, सूक्ष्म स्तर पर देखता है कि प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। तन-मन मे कही कुछ ऐसा नही है, जो स्थिर है, अचल है। जरा-सा प्रकम्पन भी है तो इसी बात का द्योतक है कि उसमे कोई परिवर्तन हो रहा है। कही स्थायित्व नही है। सारा ऐंद्रिय जगत अनित्य है, नश्वर है, भगुर है।

जो कुछ बाहर या भीतर सघन रूप मे दिखायी देता है, वह वास्तव मे सघन नही है, ठोस नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि सारा शरीर ठोस है। शरीर के साथ मन की बडी आसक्ति है। यह "मैं है" "मेरा है।" बडी गहन अवस्थाओ मे अर्ध-चेतन, अचेतन मन इस शरीर की इन ठोस अवस्थाओ के साथ इस कदर हिल-मिल गया है कि सच्चाई को जान ही नही पा रहा। तादात्म्य स्थापित हो गया है। इस साधना के द्वारा जैसे-जैसे इन गहराइयो मे जाते हैं, यह तादात्म्य टूटता है, तो सारा ठोसपना समाप्त होने लगता है, बिखरने लगता है। जबतक यह घनसज्ञा है, घनत्व की सज्ञा है, तबतक भ्राति रहती ही है। यह भ्राति कैसे टूटे ? विश्रृखलित कर-करके, विश्लेषण कर-करके, टुकड़े-टुकड़े कर-करके सच्चाई को जाने, प्रकट सत्य का भेदन कर परमार्थ सत्य को जाने। परमाणुओ का परमार्थ सत्य क्या है ? एक स्थान पर बार-बार कुछ-कुछ देर तक ध्यान करेंगे तो देखेंगे कि वह ठोस-से-ठोस स्थान किस तरह खुलता चला जा रहा है। केवल सूक्ष्म-सूक्ष्म प्रकम्पन रह गया है। सारा ठोसपना समाप्त हो गया है। इस प्रकार भौतिक पदार्थ के ठोसपने को समाप्त करके हम उसके सही स्वरूप को देख पाते है। उसका यथार्थ दर्शन करते है। जैसे शरीर, वैसे मन। हम यह भी देख पाते हैं कि किस प्रकार यह मन या चित्त की वृत्तिया भी ठोस होकर, घनीभूत होकर प्रकट होती हैं और हमारे सिर पर सवार हो जाती हैं। पीडा आती है। पीड़ा शरीर की ही नही, पीडा मन की है। पीडा मन को

हो रही है। हर सजीव प्राणी के साथ जो विज्ञान है, चेतना है, वह पीडा को महसूस करता है। यह पीड़ा जो चित्त की एक वृत्ति है, उसे विश्लेपण करके देखेंगे। कैसी पीडा है ? देखू तो सही। कहा तक है ? कहा अधिक है, कहा कम है ? इसका प्रभाव कहा-कहा है ? पीडा को भोगने के वजाय, द्रष्टाभाव से देखने लगेंगे। उसका विश्लेषण करेंगे, टुकड़े-टुकडे करेंगे। वस जहा टुकडे होने लगे, घनत्व नष्ट होगा। भोक्ताभाव न रहे। द्रष्टाभाव हो। जैसे यह दूसरे की पीडा है, मैं तो इसे महज देख रहा हू। द्रष्टा वना कि टुकडे हुए। भोक्ता वनकर आसक्त हुआ कि फिर घनीभूत हो गई। फिर डूव गया इस सगठन की माया मे, सश्लेपण की माया मे, घन-सज्ञा की माया मे। कैसे इससे वाहर निकलें ? केवल वौद्धिक स्तर पर समझ कर आजतक कोई वाहर निकला नही। कोई द्रष्टा वना नही। व्यवहार के क्षेत्र मे, अभ्यास के क्षेत्र मे, वाहर निकलना होगा। चाहे चित्त हो, चित्त की वृत्ति हो, शरीर हो, जव उसके टुकड़े-टुकडे करके देखने लगेंगे तो वे इतने सूक्ष्म अवस्था मे सामने आयगे कि उनका यथार्थ दर्शन होने लगेगा। उनका सही स्वभाव समझ मे आने लगेगा। तव "मैं" "मेरे" का भाव स्वत. नष्ट होने लगेगा। उनके साथ आसक्ति टिक ही नही सकेगी। ज्यो-ज्यो आसक्ति से निकलते चलेंगे, दुख से निकलते चलेंगे। आसक्ति ही तो दुख है। लेकिन यह सारी वात अभ्यास से ही होगी। अभ्यास ही सच्चाई का दर्शन करायेगा। वुद्धि-विलास नही। वुद्धि के स्तर पर समझने के लिए चर्चा की जा सकती है, पठन-पाठन किया जा सकता है, लेकिन यह सव हो अभ्यास मे उतरने के लिए ही। तभी लाभ होगा।

कल हमने देखा कि इस अभ्यास के करने मे पांच तरह की वाधाएं आती रहती हैं और अभ्यास मे रुकावट पैदा करती रहती हैं। इन पाच दुश्मनों की वातें सुनकर मन मे निराशा न आ जाय। हमारे साथ पाच वडे दोस्त भी है। वे वडे वलशाली है। इन पांचो दोस्तों को भी समझें। इनको वलवान वनाये रखें, इनको सदा साथ रखें। खूव प्रगति होगी।

पहला मित्र, जो हमे आगे वढने मे सहायक होता है, वह है श्रद्धा।

श्रद्धा बहुत बडा बल है, आवश्यक बल है। कोई व्यक्ति किसी विधि का अभ्यास करना चाहे, यदि उसके मन मे उस विधि के प्रति श्रद्धा न हो, विश्वास न हो, भरोसा न हो, तो वह एक कदम भी नही चल सकता। श्रद्धा तो अभ्यास की आधार-शिला है। लेकिन हमे यह ध्यान रखना है कि जो श्रद्धा पैदा की वह अन्ध-श्रद्धा मे न बदल जाय। जो विश्वास पैदा किया, वह अन्ध-विश्वास मे न बदल जाय। भक्ति और अन्ध-भक्ति मे, श्रद्धा और अन्ध-श्रद्धा मे, विश्वास और अन्ध-विश्वास मे, जो विभाजन-रेखा है वह इतनी सूक्ष्म है कि नजर ही नही आती। इसलिए हमे अत्यत सावधान रहना होगा। जबतक श्रद्धा के साथ विवेक है, ज्ञान है, समझ है, तबतक अध नही है। अत फलदायी है। श्रद्धा आखें हैं, विवेक चरण। दोनो का समन्वय, सहयोग, बड़ा आवश्यक है। किसी देवी-देवता के प्रति, ब्रह्मा के प्रति, भक्ति हो तो बहुत अच्छी बात है, यदि वह भक्ति अपने आराध्य के गुणो की याद दिलावे और उन्हे धारण करने की प्रेरणा दे। यदि भक्ति केवल कामनाओ को पूर्ण करने की लालसा के लिए हो, तो वही बधन का कारण बन जायगी। न धर्म रहा, न ज्ञान, तो ऐसी भक्ति अध-भक्ति बन जायगी। ऐसी भक्ति हानिकारक ही होगी। इसलिए खूब अच्छी तरह से समझ लें कि श्रद्धा यदि विवेक के साथ है, समझ के साथ है, सम्यक्-दृष्टि के साथ है, तो हमारा खूब कल्याण करती है और यदि मिथ्या-दृष्टि के साथ है, तो कल्याण करना तो दूर रहा, हानि ही करती है।

हमारा दूसरा मित्र वीर्य है, यानी प्रयत्न, प्रयास, पुरुषार्थ, पराक्रम। हममे खूब श्रद्धा है, लेकिन श्रद्धा के साथ यदि उस कल्याणकारी मार्ग पर चलने का प्रयत्न नही करते हैं तो कैसे लाभ होगा ? हमे दृढता के साथ, निरतरता के साथ, बताई हुई विधि के अनुसार, मार्ग पर चलना है। गलत तरीके से अभ्यास करेंगे तो सही फल कैसे मिलेगा ! सही तरीके से अभ्यास करना होगा, तभी फलदायक होगा, कल्याणकारी होगा। यह हमारा दूसरा बल है।

हमारा तीसरा मित्र स्मृति है। स्मृति का अर्थ याददाश्त न समझें। उन दिनो की साधना के क्षेत्र मे 'स्मृति' शब्द का अर्थ होता था जागरूकता,

सावधानता। सावधानता और जागरूकता वर्तमान के प्रति हुआ करती है, भूतकाल के प्रति नही। भविष्य के प्रति नही। भूतकाल की तो याद आ सकती है। भविष्यकाल की कल्पनाएं, कामनाए हो सकती हैं। सावधानता वर्तमान की ही होगी। यह अभ्यास ही वर्तमान मे जीने का अभ्यास है। वर्तमान के क्षण-क्षण के प्रति जागरूक रहने का अभ्यास है। भूतकाल के संस्कारो से, यादो से, भविष्यकाल की कल्पनाओ से, कामनाओ से, हटने का अभ्यास है। सास को देख रहे थे तो वर्तमान स्थिति को देख रहे थे। सास के स्पर्श को देखने लगे तो वर्तमान स्थिति को ही देखने लगे। अब सवेदनाओ को देख रहे है तो सारे शरीर मे जो वर्तमान की यथाभूत स्थिति है, उसे ही देख रहे हैं। आगे के लिए कोई कामना लेकर काम नही कर रहे। पीछे की किसी याददाश्त मे नहीं डूब रहे। जितना हो सकता है, इस वर्तमान के, यथाभूत के साथ चल रहे हैं। यही स्मृति हमारा तीसरा बडा मित्र है, बल है।

हमारा चौथा मित्र समाधि है। यह जो प्रत्येक वर्तमान क्षण के प्रति जागरूकता है वह बराबर बनी रहे। हम इस क्षण के प्रति जागरूक है। अगला क्षण ज्योंही वर्तमान का क्षण बनता है, उसके प्रति जागरूक हैं। इस प्रकार क्षण-क्षण, प्रतिक्षण लम्बे अर्से तक, जागरूकता बनी रहे, यही सम्यक् समाधि है, जोकि हमारा चौथा बडा मित्र है।

हमारा पाचवां बड़ा मित्र है प्रज्ञा। सारे मैल को काटने वाली तो यह प्रज्ञा ही है। सारे दुखो को दूर करने वाली तो यह प्रज्ञा ही है। बाकी तो सारे सहायक हैं। साथ दे रहे है कि हम प्रज्ञा तक पहुचें, मैल काटना शुरू कर दें। बधन काटना शुरू कर दें। क्या प्रज्ञा है? सभी स्थितियो मे चित्त का सतुलन बिगड़ने न दें। समता बनाए रखें। जिदगी में उतार-चढ़ाव आते ही रहेगे। भीतर भी आ ही रहे है। यह सारा भीतर का अभ्यास इसलिए कर रहे है कि समता पुष्ट करें। भिन्न-भिन्न स्थितिया हमारे सामने आ रही हैं—कभी सुखद सवेदना जागती है, कभी दुखद। सुखद सवेदना जागती है तो अच्छा मानकर उसके प्रति राग-रजित नही हो जाते। दुखद सवेदना जागती है तो बुरी मानकर उसके प्रति द्वेष-दूषित नही हो जाते।

दोनो परिस्थितियो को समत्वभाव से देखते हैं। मन की समता नही बिगड़ने देते। समझते हैं कि दोनो ही अनित्य हैं। द्रष्टा-भाव से उसके इस अनित्य-स्वभाव को ही देखते हैं। यही विपश्यना का अभ्यास है। यही प्रज्ञा है। प्रज्ञा हमारा पाचवा बडा बल है।

यदि ये हमारे पाच मित्र, पाच वल, साथ रहेगे तो कोई भी दुश्मन हमारा कुछ नही बिगाड़ सकता। प्रगति होती ही जायगी। आगे बढ़ते ही जायगे। चित्त को निर्मल करते ही जायगे। ●

बाहर करने की ही तो साधना है। कितने लम्बे अर्से से एकत्र ही करते आए हैं। न जाने कैसे-कैसे कर्म-सस्कार इकट्ठे कर रखे हैं। इस साधना द्वारा न जाने किस समय कौन-सा सचित कर्म-सस्कार अन्तर्मन की गहराइयो से उभरकर सतह पर आए, उसकी उदीर्णा हो ? जिस प्रकार का कर्म-सस्कार होगा, उदीर्णा होने पर उसी प्रकार की सवेदना होगी। सुखद हो सकती है, दुखद हो सकती है, स्थूल हो सकती है, सूक्ष्म हो सकती है। कौन-सा सस्कार उभरकर सामने आया, उससे नही मापा जाता कि प्रगति हो रही है कि नही हो रही है। जो भी सस्कार उभरकर सामने आया हमने उसे कैसे देखा ? समता से देखा या समता खो दी ! सवेदना के प्रकट होने पर यदि समता खो दी, फिर राग पैदा करना शुरू कर दिया, द्वेष पैदा करना शुरू कर दिया, तो प्रगति नही हो रही।

पुरानी आदत के अनुसार, पुराने स्वभाव के अनुसार, यदि राग या द्वेष की प्रतिक्रिया हो भी जाय तो देखना यह है कि कितनी जल्दी फिर होश मे आ गए। फिर संवेदना को देखने लगे, समता के साथ। चित्तधारा पर राग का आरभ, द्वेष का आरभ होने ही न दें और यदि आरभ हो गया तो जल्दी-से-जल्दी उसे फिर रोक दें, सवर कर लें—यही साधना है।

किस प्रकार की सवेदना कब प्रकट होगी, इसका कोई निश्चय नही। इससे हमे कुछ लेना-देना भी नही। बहुत बार ऐसा होने लगता है कि शरीर मे एक जैसी सूक्ष्म-सूक्ष्म सवेदनाओ की धारा बहने लगती है। धारा-प्रवाह अनित्य-बोध की अनुभूति होने लगती है। कही कोई स्थूलता नही, ठोसपना नही, सघनता नही, और एकाएक गहरा आपरेशन हुआ कि अन्तर्मन की गहराइयो से कुछ उभरकर आया। शरीर के किसी अग पर मूर्च्छा-सी छा गयी। किसी अग पर कोई स्थूल सवेदना जाग पडी, फिर कुछ घनीभूत होने लगा। ऐसे हो तो घबराना नही है। उसे ही साक्षीभाव से देखना शुरू कर देंगे। देखते-देखते उसका विघटन होता ही जायगा, उसका विश्लेषण होता ही जायगा। टुकड़े-टुकडे होते-होते सघनता दूर होगी ही। फिर धारा-प्रवाह की अनुभूति होने लगेगी। तदुपरान्त फिर कोई और सचित संस्कार उभरकर ऊपर आ सकता है। जबतक भीतर

सग्रह है, तबतक यह उभार आयगा ही। सग्रह तो है ही। अत. जब-जब उभर कर ऊपर आये, तब-तब अपनी ओर से सवर कर लें, रोक लगा दें, यानी उभार की वजह से नया सस्कार न बनने दें। यही सवर है।

ज्योही सवर किया यानी रोक लगा दी कि प्रकृति का, कुदरत का, विधान, नियम अपने आप काम करने लगता है। सवर किया कि निर्जरा होनी शुरू हो जायगी। सवर करते ही किसी अन्य सस्कार का फल उभर-कर ऊपर आयगा, उदीर्णा होगी। देखेंगे उसे समता से तो उसकी भी निर्जरा हो जायगी। उसका क्षय हो जायगा। सवर करना प्रमुख है, लेकिन सवर ऊपर-ऊपर का नही होना चाहिए। ऊपरी-ऊपरी सवर से इतना ही लाभ होगा कि शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से बच जायगे। लेकिन अन्तर्मन मे मैल बनाने का जो स्वभाव हो गया है, उस पर रोक लगानी आवश्यक है। भीतर-ही-भीतर अन्तर्मन की गहराइयों मे मैल पैदा करने की जो प्रक्रिया है, उस पर रोक लगानी होगी, नही तो मैल का सवर्धन होता ही जायगा। इसलिए सवर अन्तर्मन की गहराइयो तक होना चाहिए।

वैसे आखो का सवर बहुत अच्छा है, कल्याणकारी है। कानो का सवर, नाक का सवर, जीभ का सवर, काया का सवर, वाणी का सवर बहुत अच्छा है, कल्याणकारी है। पर सारे सवरो मे अच्छा मन का सवर है और वह भी सपूर्ण मानस का सवर, अन्तर्मन की गहराइयो तक का सवर। यह जो भी कुछ भीतर-भीतर सवेदनाए हो रही हैं, इसकी अनुभूति अचेतन मन को, अर्धचेतन मन को, होती ही रहती है और परिणामस्वरूप अन्दर-ही-अन्दर प्रतिक्रिया भी होती रहती है। इससे चित्तधारा पर राग और द्वेष पैदा होता रहता है। और चेतन मन को इस प्रक्रिया का पता ही नही रहता। अत. केवल चेतन चित्त तक का सवर इस पर रोक नही लगा सकेगा। ज्यो-ज्यो समता मे रहने का अभ्यास बढेगा, चेतन, अर्ध-चेतन और अचेतन मन के बीच की दीवारे टूटेंगी। जो कुछ भीतर हो रहा है, सब मालूम होने लगेगा और समग्र मानस समता मे रहना सीखेगा, अतः समग्र मानस मे सवर होगा।

यह गहरा सवर अन्तर्मन की गहरी ग्रन्थियो को काटता है। यह

शील धरम की नीव है, ध्यान धरम की भीत ।
प्रज्ञा छत है धरम की, मंगल भवन पुनीत ।।

जीवन मे आते रहे, पतझड़ और वसंत ।
दोनों मे समता रहे, होय दुखो का अंत ।।

मानव का जीवन मिला, धर्म मिला अनमोल ।
अब श्रद्धा से जतन से, अपने बन्धन खोल ।।

श्रद्धा तो जागे मगर, छूटे नही विवेक ।
श्रद्धा और विवेक से, मगल जगे अनेक ।।

जप-तप व्रत उपवास के, साधन जुटे अनेक ।
साधन ही बाधक बने, छूटा ज्ञान विवेक ।।

कितने दिन बिरथा गये, करते वाद-विवाद ।
अवसर आया धरम का, चाख धरम का स्वाद ।।

आठवां दिन

आज हमारी साधना के आठ दिन पूरे हुए। अब बहुत थोड़ा समय बचा है। इसका भरपूर लाभ लेने के लिए भरपूर श्रम करना होगा।

श्रम करने के लिए ही तो आए हैं। तपने के लिए, पुरुषार्थ करने के लिए ही तो आए हैं। जो शाम की धर्म-चर्चा होती है, वह वाणी-विलास और बुद्धि-विलास का विषय न बन जाय। जिज्ञासुभाव से, मुमुक्षुभाव से, धर्म की इस विधि को, धर्म धारण करने के तरीके को, ठीक तरह से समझने के लिए ही इस धर्म-चर्चा का प्रयोग हो। मुख्य बात तो धर्म धारण करना है। धर्म धारण करने के लिए अभ्यास करना होता है, प्रयास करना होता है। कैसे प्रयास करें? विधि को ठीक समझ-समझ कर प्रयास करें तो प्रयास लाभदायक होगा।

आओ, फिर समझें, कैसी है यह साधना? क्या है यह विधि? भीतर की सच्चाई को जानना है और जानकर समता मे स्थित रहना है। कभी-कभी साधक को एक भ्राति हो जाती है। जो सवेदना मिल रही है, उसका मूल्याकन करने लगता है। मूल्याकन करता है तो उसी को प्रगति का मापदड मान लेता है। एक प्रकार की सवेदना मिलती है तो मान बैठता है कि साधना बहुत ऊची है, अन्य प्रकार की सवेदना मिलती है तो मान बैठता है, साधना बहुत नीची है। गलत मापदण्ड हो गया। साधना का सही मापदण्ड तो यह है कि जो सवेदना प्रकट हो रही है, उसे जान रहे है और जानकर कितनी समता मे स्थित रहते है। प्रगति का यथार्थ मापदण्ड समता है, सवेदना नही।

अन्तर्मन की गहराइयो मे जो कुछ एकत्र कर रखा है, उसे निकाल

बाहर करने की ही तो साधना है। कितने लम्बे अर्से से एकत्र ही करते आए है। न जाने कैसे-कैसे कर्म-सस्कार इकट्ठे कर रखे हैं। इस साधना द्वारा न जाने किस समय कौन-सा सचित कर्म-सस्कार अन्तर्मन की गहराइयो से उभरकर सतह पर आए, उसकी उदीर्णा हो ? जिस प्रकार का कर्म-सस्कार होगा, उदीर्णा होने पर उसी प्रकार की सवेदना होगी। सुखद हो सकती है, दुखद हो सकती है, स्थूल हो सकती है, सूक्ष्म हो सकती है। कौन-सा सस्कार उभरकर सामने आया, उससे नही मापा जाता कि प्रगति हो रही है कि नही हो रही है। जो भी सस्कार उभरकर सामने आया हमने उसे कैसे देखा ? समता से देखा या समता खो दी ! सवेदना के प्रकट होने पर यदि समता खो दी, फिर राग पैदा करना शुरू कर दिया, द्वेष पैदा करना शुरू कर दिया, तो प्रगति नही हो रही।

पुरानी आदत के अनुसार, पुराने स्वभाव के अनुसार, यदि राग या द्वेष की प्रतिक्रिया हो भी जाय तो देखना यह है कि कितनी जल्दी फिर होश मे आ गए। फिर संवेदना को देखने लगे, समता के साथ। चित्तधारा पर राग का आरभ, द्वेष का आरभ होने ही न दें और यदि आरभ हो गया तो जल्दी-से-जल्दी उसे फिर रोक दें, सवर कर लें—यही साधना है।

किस प्रकार की सवेदना कब प्रकट होगी, इसका कोई निश्चय नही। इससे हमे कुछ लेना-देना भी नही। बहुत बार ऐसा होने लगता है कि शरीर मे एक जैसी सूक्ष्म-सूक्ष्म सवेदनाओ की धारा बहने लगती है। धारा-प्रवाह अनित्य-बोध की अनुभूति होने लगती है। कही कोई स्थूलता नही, ठोसपना नही, सघनता नही, और एकाएक गहरा आपरेशन हुआ कि अन्तर्मन की गहराइयो से कुछ उभरकर आया। शरीर के किसी अग पर मूर्च्छा-सी छा गयी। किसी अग पर कोई स्थूल सवेदना जाग पड़ी, फिर कुछ घनीभूत होने लगा। ऐसे हो तो घबराना नही है। उसे ही साक्षीभाव से देखना शुरू कर देंगे। देखते-देखते उसका विघटन होता ही जायगा, उसका विश्लेषण होता ही जायगा। टुकड़े-टुकडे होते-होते सघनता दूर होगी ही। फिर धारा-प्रवाह की अनुभूति होने लगेगी। तदुपरान्त फिर कोई और सचित संस्कार उभरकर ऊपर आ सकता है। जबतक भीतर

सग्रह है, तबतक यह उभार आयगा ही। सग्रह तो है ही। अत जब-जब उभर कर ऊपर आये, तब-तब अपनी ओर से सवर कर लें, रोक लगा दें, यानी उभार की वजह से नया सस्कार न बनने दें। यही सवर है।

ज्योही सवर किया यानी रोक लगा दी कि प्रकृति का, कुदरत का, विधान, नियम अपने आप काम करने लगता है। सवर किया कि निर्जरा होनी शुरू हो जायगी। सवर करते ही किसी अन्य सस्कार का फल उभरकर ऊपर आयगा, उदीर्णा होगी। देखेंगे उसे समता से तो उसकी भी निर्जरा हो जायगी। उसका क्षय हो जायगा। सवर करना प्रमुख है, लेकिन सवर ऊपर-ऊपर का नही होना चाहिए। ऊपरी-ऊपरी सवर से इतना ही लाभ होगा कि शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से बच जायगे। लेकिन अन्तर्मन मे मैल बनाने का जो स्वभाव हो गया है, उस पर रोक लगानी आवश्यक है। भीतर-ही-भीतर अन्तर्मन की गहराइयो मे मैल पैदा करने की जो प्रक्रिया है, उस पर रोक लगानी होगी, नही तो मैल का सवर्धन होता ही जायगा। इसलिए सवर अन्तर्मन की गहराइयो तक होना चाहिए।

वैसे आखो का सवर बहुत अच्छा है, कल्याणकारी है। कानो का सवर, नाक का सवर, जीभ का सवर, काया का सवर, वाणी का सवर बहुत अच्छा है, कल्याणकारी है। पर सारे सवरो मे अच्छा मन का सवर है और वह भी सपूर्ण मानस का सवर, अन्तर्मन की गहराइयो तक का सवर। यह जो भी कुछ भीतर-भीतर सवेदनाए हो रही हैं, इसकी अनुभूति अचेतन मन को, अर्धचेतन मन को, होती ही रहती है और परिणामस्वरूप अन्दर-ही-अन्दर प्रतिक्रिया भी होती रहती है। इससे चित्तधारा पर राग और द्वेष पैदा होता रहता है। और चेतन मन को इस प्रक्रिया का पता ही नही रहता। अत. केवल चेतन चित्त तक का सवर इस पर रोक नही लगा सकेगा। ज्यो-ज्यो समता मे रहने का अभ्यास बढेगा, चेतन, अर्धचेतन और अचेतन मन के बीच की दीवारे टूटेंगी। जो कुछ भीतर हो रहा है, सब मालूम होने लगेगा और समग्र मानस समता मे रहना सीखेगा, अत समग्र मानस में सवर होगा।

यह गहरा संवर अन्तर्मन की गहरी ग्रन्थियो को काटता है। यह

बात महज इसलिए नही माननी है कि किसी महापुरुष ने कही है या किसी शास्त्र मे लिखी है। अपनी अनुभूतियो से जानना है और जानकर मानना है, तो ही मगल सधेगा। प्रकृति के इस नियम को अनुभूतियो से समझेंगे तो स्वत कल्याण सधने लगेगा। जब अनुभूतियो के स्तर पर समझ मे आने लगता है, तब सचमुच गहरा सवर होने लगता है। दुख-विमुक्ति का रास्ता खुलने लगता है। ठीक ही कहा गया है .

अनिच्चावत सङ्खारा उप्पादवयधम्मिनो।
उपज्झित्वा निरुज्झन्ति, तेस उपसमो सुखो॥

सचमुच सारे सस्कार अनित्य है, उत्पन्न होते है, नष्ट होते हैं—उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय। यही इनका धर्म है। यह ध्रुव धर्म है। यह बदलने-वाली प्रक्रिया कभी नही रुकती। परिवर्तनशीलता ही इसका नित्य स्वभाव है, लेकिन बहुत गहराइयो मे जाकर देखेंगे तो मालूम होगा कि उत्पाद होकर जो व्यय हुआ, बेहोशी की अवस्था मे व्यय हुआ। अत. फिर उत्पाद का कारण बना। जिस कर्म-सस्कार का बीज डाला, उसका फल आया और समाप्त हुआ। लेकिन नया बीज फिर पडा, फिर फल आया। यो क्रम चलता रहता है। अन्त होता ही नही। लेकिन यदि उत्पन्न होकर सर्वथा क्षय हो जाय तो कल्याण हो जाय। अन्तर्मन मे भरे सस्कारो की एक परत ऊपर आयी और उतरी तो वास्तव मे उदीर्णा हुई। क्षय हुआ। "तेसं उपसमो सुखो", यो एक-पर-एक परत का उपशमन होता चला जाय, क्षय होता चला जाय। जितना-जितना उपशमन हो, उतना-उतना मुक्त हुआ दुखो से। उतना-उतना सुख आया। सारे ही सस्कारो का क्षय हो जाय तो परमसुख, निर्वाण, का साक्षात्कार हो जाय। "निब्बान परम सुख।"

प्रकृति के दो मोटे नियम हैं, उन्हे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। एक तो सवर्धन का नियम है। बढता है, बढता है। विशदीकरण ही होता रहता है। दूसरा, यदि रोक लगा दी जाय, तो घटने का नियम है। जब घटने का काम शुरू हो गया और नया बनना बद हो गया "खीणं पुराण नव नत्थि सभव" ? तो धीरे-धीरे सारे पुराने सस्कार समाप्त हो जाते हैं। हर व्यक्ति, जिसने-जिसने भी सही माने मे सवर करना शुरू कर दिया, उसी की कर्म-निर्जरा शुरू हो गयी। कितना

भी कर्म-सग्रह क्यो न हो, अगर नया सग्रह करना बद कर दें तो पुरानो को समाप्त होने मे, कम देर लगे या ज्यादा देर लगे, पर समाप्त होंगे ही।

प्रकृति के इस नियम को जानने के लिए समझें कि यह चित्तधारा किस प्रकार बहती है। चित्तधारा को आगे बढने के लिए प्रतिक्षण आहार चाहिए। नया सस्कार एक आहार है, पुराने सस्कारो का फल दूसरा आहार है। इन दोनो मे से कोई-न-कोई आहार मिलता है तो यह चित्त-धारा आगे बढती है। बहुधा होता यह है कि चित्तधारा को जब हम एक आहार देते हैं, एक नया सस्कार डालते हैं तो रुकते नही। अगले क्षण फिर वैसा ही आहार देते हैं। यो क्षण-प्रतिक्षण आहार देते चलते हैं। किसी बात को लेकर क्रोध आया तो बडा नन्हा-सा क्षण होता है क्रोध का, पलक झपकने मात्र मे कितने ही शत-सहस्र कोटि बार उत्पन्न होकर नष्ट होने वाला क्षण। लेकिन क्रोध का सस्कार पैदा करते ही अगले क्षण फिर क्रोध पैदा किया। अगले क्षण फिर क्रोध। यो यह क्रोध-ही-क्रोध के सस्कार इस चित्तधारा को देर तक आगे बढाते चलते है। कभी तो घटो क्रोध चलता रहता है। क्रोध रुका नो कोई और सस्कार बनाना शुरू कर देंगे। वह चलेगा देर तक। फिर कोई और। कभी भय। कभी वासना। कभी कुछ और। यो पुराने सस्कारो के नष्ट होने की बारी ही नही आती। क्षण-क्षण नया ही बनाए जा रहे हैं। यदि हम सवर लें यानी रोक लगा दें तो नए सस्कार नही बनते। तब चित्तधारा किसके बल पर चलती है ? क्योंकि हमने नया सस्कार नही बनाया, तो कोई-न-कोई सस्कार-बीज, जिसका फल हो सकता है, कुछ देर बाद आनेवाला हो, अब जल्दी पककर आयगा। इसे विपाक का त्वरतिकरण कह सकते हैं। तुरन्त कोई पुराना कर्म-सस्कार चित्तधारा पर अपना फल लेकर आता ही है। यही उदीर्णा है। आया कोई पुराना कर्म-सस्कार चित्तधारा पर, अपना फल लेकर और उसके सहारे चित्त-धारा आगे बढने लगी। जैसा कर्म था वैसा ही फल आया। हम उसे समता से, प्रज्ञा मे, देखने लगे तो हुआ निरोध उसका। जितने-जितने पुराने सस्कार क्षीण होते चले जायगे

उतना-उतना हल्कापन आयगा ही। सही माने मे सुख आयगा। दुखो से छुटकारा होगा।

विधि की पूर्णता इस बात मे है कि अन्तर्मन की गहराइयो मे जो कुछ हो रहा है, उसे जानें और समता मे रहे। यदि हम केवल ऊपरी-ऊपरी सतही-सतही सच्चाई का अनुभव कर रहे हैं, तो ऊपरी सतह तक समता मे रहे। यदि एक-एक कदम सूक्ष्मता की ओर वढ रहे हैं तो जिस-जिस स्तर तक पहुचे उस-उस तक समता मे रहे। यो अभ्यास करते-करते सारा मानस चेतन हो उठे तो सारे मानस पर समता स्थापित हो जाय।

अनुभूतियो से समझेंगे कि शरीर की सवेदनाओ का चित्त-धारा से क्या सबंध है ? और चित्त-धारा का शरीर की संवेदनाओ से क्या सबध है ? किस प्रकार चित्त (माइन्ड) पदार्थ (मैटर) मे और पदार्थ (मैटर) चित्त (माइन्ड) मे परिवर्तित हो जाता है ? क्रोध जागा और शरीर मे अग्नि-प्रधान परमाणु उत्पन्न होने लगे। भय जागा, वायु-प्रधान परमाणु उत्पन्न होने लगे और उनकी सवेदना शरीर मे होने लगी। शरीर मे जलन की सवेदना हो रही है या कपन-धूजन की हो रही है, कितना गहरा सबध है चित्त का शरीर के साथ ! जिस प्रकार के नए सस्कार का निर्माण करते हैं, शरीर मे उसी प्रकार की सवेदना का निर्माण करते हैं। जब पुराने सस्कार बाहर निकलेंगे तो सवेदना पैदा करके ही निकलेंगे। हर क्रोध के सस्कार ने अग्नि-तत्व प्रकट किया था। अब यदि पुराने क्रोध के सस्कार बाह र आ रहे हैं, तो पुन. अग्नि धातु ही जागेगी। गर्मी महसूस होगी। इस प्रकार उत्पन्न सवेदना को यदि हम समता से देखते जायगे और प्रतिक्रिया नही करेंगे, तो ये सग्रहीत सस्कार स्वतः क्षीण होते चले जायगे। अत. प्रमुख समता है।

एक बार कुछ लोग भगवान के पास आए पूछने कि भगवान ! हमारा सही मगल किस बात मे है ? भगवान ने उन्हें मगल-धर्म समझाए। गृहस्थो के लिए अडतीस मंगल-धर्म सिखाए। पहले से अगला उत्तम। इस तरह समझाते-समझाते अतिम मगल-धर्म पर पहुचे तो कहा :

फुट्ठस्स लोकधम्मेहि, चित्त यस्स न कम्पति ।
अमोक विरज खेम, एत मङ्गलमुत्तम ॥

लोक-धर्म का स्पर्श होने पर—क्या है लोक धर्म ? जीवन के ये ही उतार-चढाव, बसन्त-पतझड—सुख-दुख, यश-अपयश, लाभ-हानि, जय-पराजय—यही है लोक-धर्म । इनका स्पर्श होने पर जिसका चित्त कपायमान नही होता, डावाडोल नही होता, समता मे रहना है, "असोक" शोक-रहित रहता है, "विरज" ? विरज विमल रहता है, "खेम" योग-क्षेम से भरपूर रहता है, अगले क्षण के लिए निश्चित रहता है, पूर्ण सुरक्षित महसूस करता है, यो समता मे रहता है तो उत्तम मगल सधने लगता है ।

कैसे समता का जीवन जीए ? ऊपर से दमन करके नही । भीतर से समता आनी शुरू हो, ताकि ऊपर उसका प्रभाव प्रकट होने लगे । यदि गलती हुई भी, समता टूटी भी, चित्तधारा विषम हो भी गयी, तो कितनी जल्दी पुन होश आ गया, पुन समता मे स्थित हो गए । इसी का अभ्यास करना है । शनै -शनै ही सुधार होता है । शनै -शनै. ही दुख-विमुक्ति होती है । पुराना कितना सग्रह है, इस पर निर्भर है । किसी के पास कम सग्रह है, वह जल्दी खत्म कर लेगा । यदि सग्रह ज्यादा है तो अधिक देर तक परिश्रम करके समाप्त करना होगा । सही तरीके से जितना-जितना सवर करेगा, उतना मुक्त होते ही चला जायगा । किसी जाति का हो, किसी सम्प्रदाय का हो, काला हो या गोरा हो, फर्क क्या पडता है ? कुदरत का कानून सब पर समान रूप से लागू होता है । नाम चाहे जो हो—हिंदू हो, मुसलमान हो, जैन हो, बौद्ध हो, ईसाई हो—वही प्रबुद्ध हो जायगा तो अच्छा इसान हो जायगा । अच्छा हिंदू, अच्छा मुसलमान, अच्छा जैन, अच्छा बौद्ध, अच्छा ईसाई, अच्छा आदमी बन जायगा । धर्म अच्छा आदमी बनना सिखाता है । यह अच्छा आदमी बनने की विद्या है । अच्छे आदमी बनेंगे तो स्वय भी सुख से रहेगे औरो के भी सुख का कारण बनेंगे । कैसे सही माने मे बोधि जाग जाय, प्रबुद्ध हो जाय । कैसे सही माने मे प्रज्ञा जाग जाय ! सही माने मे प्रज्ञा मे स्थित हो जाय ! स्थितप्रज्ञ बन जाय । अपनी अपनी मेहनत पर निर्भर करता है ।

हर आदमी अपना मालिक स्वय है। अपनी गति खुद ही बनाता है।

"अत्ता ही अत्तनो नाथो, अत्ता ही अत्तनो गति।"

इस क्षण क्या सस्कार डाले, यह उसके अपने अधिकार मे है। जो बीत गया सो बीत गया। उस पर कोई अधिकार नही। लेकिन यदि इस क्षण होश मे है तो वह वर्तमान का मालिक बन गया। सारी साधना इसी बात के लिए है कि इस क्षण होश है कि नही। प्रतिक्षण बीज बोने का क्षण है। कैसा बीज बोते है? यदि राग और द्वेष का बीज बो रहे हैं, तो अपने लिए दुख ही पैदा किए जा रहे हैं। कैसे इस दुख-चक्र को पलटें? कैसे यह दुख-चक्र धर्म-चक्र मे पलटे? कैसे यह लोक-चक्र मुक्ति-चक्र मे पलटे? बौद्धिक स्तर पर भले सारी बात समझ मे आ जाय, लेकिन बिना अभ्यास के जीवन मे उतरती नही। दुख-चक्र बढाने वाला स्वभाव पलटकर कैसे धर्म-चक्र मे परिवर्तित हो, यह बिना अभ्यास के सभव नही होता। केवल कामना करने से या चमत्कार से स्वभाव नही पलटता। यदि हमे स्वभाव पलटना है तो अभ्यास करना ही होगा। अभ्यास यही करना होगा कि कैसे राग-द्वेष पैदा करना बद करें। साधना इसीलिए है। इसे ठीक तरह से बौद्धिक स्तर पर समझ कर व्यवहार मे उतारना है, अभ्यास मे उतारना है। धारण करना है। धर्म धारण करते हैं तो ही सुख मिलता है। विधि के अनुसार ठीक-ठीक अभ्यास करें। सफलता अवश्य प्राप्त होगी। •

धरम हमारा ईश है, धरम हमारा नाथ ।
हम तो निर्भय ही रहे, धरम हमारे साथ ।।

राग सदृश ना रोग है, द्वेष सदृश ना दोष ।
मोह सदृश ना मूढता, धर्म सदृश ना होश ।।

जितना गहरा राग है, उतना गहरा द्वेष ।
जितना गहरा द्वेष है, उतना गहरा क्लेश ।।

भोगत-भोगत भोगते, बन्धन बधते जायं ।
देखत-देखत देखते, बन्धन खुलते जाय ।।

ज्यो-ज्यों अन्तर्जगत मे, समता बढ़ती जाय ।
काया वाणी चित्त के, कर्म सुधरते जायं ।।

राग छुटे समता बढ़े, मिले परम संतोष ।
दूर होय बेचैनियां, मिले शान्ति-सुख-कोष ।।

नवां दिन

साधना के नौ दिन पूरे हुए। नौ दिन तक जो अभ्यास किया, उसे भलीभांति समझें। क्या किया ? ऐसे क्यों किया ? क्या लाभ है इसका दैनिक जीवन में ? यदि साधना का जीवन में उपयोग नहीं होता है तो यह भी कर्मकांड बनकर रह जायगी, एक धार्मिक अनुष्ठान बनकर रह जायगी। धर्म का लाभ इसी जीवन में मिलना चाहिए, तब तो धर्म धर्म है, अन्यथा धोखा है। धर्म के नाम पर कितनी भ्रांतियां चलती है ?

यह साधना आत्म-दर्शन की साधना है, स्व-दर्शन की साधना है। अपने आपको देखने की साधना है। अपने आपको कैसे देखना है ? जो सच्चाई अपने बारे में इस क्षण प्रकट हुई है, उसे देखना है। कितना भी अप्रिय क्यों न हो, सच्चाई तो सच्चाई है। यदि हम सदा अप्रिय से मुह मोड़ते रहेंगे, पलायन करते रहेंगे तो सच्चाई से विमुख हो जायगे। यदि हममें कोई दोष है, खोट है, तो उसे भलीभांति जानना चाहिए, स्वीकार करना चाहिए। तब ही दोष निकाल सकेंगे।

जीवन में एक बड़ी भ्रांति चलती है। इसका कारण है कि हम सदैव बहिर्मुखी ही रहते हैं। सदा औरों को ही देखते है, बाहर की परिस्थितियों को ही देखते हैं। अतः दोष हमेशा बाहर ही देखते हैं। स्वय दुखी हुए तो दुख का कारण बाहर ही ढूढते हैं। बाहर की घटना, स्थिति, वस्तु, व्यक्ति को ही अपने दुख का कारण मानते है और उसे ही सुधारने में अपना सारा श्रम लगाते हैं। कैसे बाहर की स्थिति मनोनुकूल हो जाय ? कैसे बाहर का हर व्यक्ति हमारे मनोनुकूल आचरण करने लगे ? इसके

लिए सारा जीवन लगा देते हैं, पर असफलता ही हाथ लगती है। दुख दूर नही होते।

अपने बारे मे एक मिथ्या कल्पना बना ली कि मैं बडा शुद्ध हू, निर्मल हू, निर्लिप्त हू, मुक्त हू। पर सच्चाई यह है कि मेरे मे कितना राग भरा पड़ा है, कितना द्वेष भरा है। सच्चाई से मुख मोडने से, भागने से, पलायन करने से, समस्या का हल नहीं होता, समाधान नही होता।

विपश्यना इसीलिए है कि अन्तर्मुखी होकर अपने आपको देखें। जैसे हैं, वैसे देखें। यदि इस समय मेरा चित्त राग-रजित है, मोह-विमूढ़ित है, तो उसे ऐसा ही देखना है। यदि रोगी अपने सही रोग को जान लेता है, कारण को पहचान लेता है, तो कारण दूर करके रोग से विमुक्त हो जाता है। जो रोगी रहते हुए भी इस धोखे मे रहता है कि मैं रोगी नही हू, वह कभी रोग से मुक्त नही हो सकता। सारा जीवन धोखे मे ही वीत जायगा। अपने दोष का दर्शन करना है, दुख का दर्शन करना है। दुख का दर्शन करने का मतलब निराशा मे डूबना नही है।

अगर धर्म केवल यही बताता कि सर्वत्र दुख है, जन्म से लेकर मृत्यु तक दुख-ही-दुख है और इस दुख का कोई निस्तार नही है तो सचमुच बडी निराशा की बात होती। ऐसा धर्म हमारे काम का नही होता। पर कितने कल्याण की बात हुई कि जो सच्चाई है दुख की, उसे स्वीकार करने के साथ-साथ यह भी स्वीकार कर रहे हैं कि दुख तो है, पर दुख से बाहर निकलने का रास्ता भी है। इस सच्चाई मे कितनी आशा भरी हुई है। सारा जीवन आशा से भर जाय। निराशा का नाम न रहे। धर्म मे आशा, जरा भी निराशा नही। सम्पूर्ण दुख-विमुक्ति का रास्ता जो मिल गया, और रास्ता भी ऐसा कि तत्काल फलदायी। इस पर एक-एक कदम चलकर देखें कि किस प्रकार दुख के बाहर आ रहे हैं। जितना अभ्यास करते हैं, उतना मैल छूटता जा रहा है, उतना भार उतरता जा रहा है। इसी जीवन मे जब इसका प्रभाव आने लगेगा, कितनी आशा जागेगी! आचल वहुत मैला है। उसे देखकर रोयेंगे नही।

साबुन जो मिल गया। साबुन को इस्तेमाल करना भी आ गया। अब साबुन इस्तेमाल करेंगे। निराशा कहा ?

एक बात ठीक तरह से समझ लेनी होगी कि अपने दुखो के लिए हम स्वयं जिम्मेदार हैं, अन्य कोई नही। हम स्वय ही अपने पागलपन मे, नादानी मे, अज्ञान अवस्था मे, अपने भीतर मैल-पर-मैल इकट्ठा करते रहते हैं और परिणामत व्याकुल होते रहते हैं। इस मैल को हमने चढ़ाया है, हमे ही निकालना होगा। दूसरा कोई क्या करेगा ? दूसरा तो बड़े प्यार से रास्ता बता सकता है। रास्ते पर चलना तो हमे ही पड़ेगा। इसीलिए अन्तर्मुखी हो रहे हैं, स्व-मुखी हो रहे हैं। पराङ्मुखी तो बहुत रहे, बहिर्मुखी तो बहुत रहे, अब स्वमुखी होकर प्रज्ञा जगाना है।

ठीक तरह से समझें कि प्रज्ञा क्या है ? उन दिनो की भाषा मे प्रज्ञा का अर्थ होता था "पकारेन जानेति ति पञ्त्रा", नाना प्रकार से जानना प्रज्ञा है। अनेकानेक दृष्टि से देखना प्रज्ञा है। एकागी दृष्टि से किसी भी व्यक्ति-वस्तु को, घटना-स्थिति को, देखते है तो आशिक दर्शन मिथ्या दर्शन है, भ्रामक है। अनेकात दृष्टि से देखने लगें, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से उसी बात को देखने लगें तो सर्वांगीण दर्शन होने लगे। सम्पूर्ण दर्शन होने लगे। बात ठीक-ठीक समझ मे आ जाय, प्रज्ञा इसलिए है कि अनेकात दृष्टि से देखें, एकात दृष्टि से नही। जिसको सर्वांगीण दर्शन होने लगा, बात ठीक-ठीक समझ मे आने लगी, उसका हर कदम ठीक होगा। हर काम ठीक होगा, हर निर्णय ठीक होगा। जब अपने भीतर सवेदना को देखते हैं तो एक और दृष्टि जागती है। भीतर देखने की दृष्टि जागती है। "विमूढानानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुप:," यह है ज्ञान-चक्षु से अपने भीतर देखने की प्रज्ञा।

बाहर कोई घटना घटी, किसी ने गाली दी, अपमान किया, कोई अनचाही बात हो गयी कि प्रतिक्रिया होने लगी भीतर-ही-भीतर। आग-सी जलने लगी। दुख का कारण भी भीतर दीखने लगा, दुख का निवारण भी भीतर दीखने लगा। एकदम दीखने लगेगा। साधना मे जैसे-जैसे आगे बढ़ेंगे और भी अनेक दृष्टियो से देखने लगेंगे। यदि किसी ने अपमान किया तो आज तो यही कहते है कि शत-प्रतिशत वह व्यक्ति

जिम्मेदार है। जब विपश्यना मे पकने लगेंगे तो यह कहने लगेंगे कि यह जो मुझे दुख हुआ, किसी के अपमान करने से दुख हुआ तो आधा वह व्यक्ति जिम्मेवार है और आधा जिम्मेवार मैं हूं। और आगे बढ़ेंगे तो यह स्पष्ट होगा कि मेरे सुख या दुख का शत-प्रतिशत मैं ही जिम्मेवार हूं और कोई नही। यह बात तर्क-वितर्क से समझ मे नही आती। जब अन्तर्मुखी होकर अपने आपको देखने लगेंगे तो मालूम होगा दुख कहा शुरू होता है ? कैसे शुरू होता है ? कैसे बढ़ता है ? सवेदनाओ से जानने लगेंगे। शरीर मे भिन्न प्रकार की सवेदना होती है। सवेदनाओ को देखकर हम भीतर की सच्चाइयां जानने लगेंगे। जैसे-जैसे साधना मे पुष्ट होते जायगे, तुरन्त मालूम होगा कि भीतर विकार जागते ही व्याकुलता आती है। सामने के व्यक्ति के मन मे यदि विकार जागा है, क्रोध जागा है तो उसकी व्याकुलता भी मालूम होने लगेगी। एक समय तो ऐसा भी आयगा साधन के जीवन मे, जबकि वह अन्य व्यक्तियो की सवेदनाओ को भी महसूस करने लगेगा। ठीक वैसा ही जैसेकि अपनी सवेदनाए महसूस करता है। जब किसी गाली देने वाले क्रुद्ध व्यक्ति के भीतर की तपन स्वय महसूस करने लगेगा, तो कैसे उस तक व्याकुल व्यक्ति की ओर अगारे फेकेंगा ? उस पर तो शीतल जल ही डालेगा।

इस देश मे मानस के बड़े-बड़े धनवन्तरि हुए। उन्होंने अन्तर्मन की खूब खोज की। भीतरी सत्य का बहुत शोध हुआ, अनुसधान हुआ। जब अन्तर्मुखी होकर सच्चाई को देखने लगे तो मालूम हुआ कि जब-जब चित विकारो से विकृत होता है, तब-तब व्याकुलता आती है। तब क्रोध आता है तो अपने साथ दुख ही लेकर आता है।

अनुसधान करते-करते एक सीमा तक पहुचे तो एक रास्ता मिला—जब-जब विकार जागे तब-तब चित्त को किसी दूसरे काम मे लगा दें। जिसके प्रति श्रद्धा है उसका नाम जपने लगें, उसका ध्यान करने लगें। तो मन को एक अन्य ओर मोड़ दिया। इससे लाभ हुआ। रोग को खोजा और रोगो की औषध भी खोजी। पर पूरा लाभ नही हुआ। लेकिन इस देश मे ऐसे भी महापुरुष हुए जिन्होंने यह खोज यही समाप्त नही की। वे अन्तर्मन की और गहराइयो मे उतरे और पाया कि केवल

चेतन चित्त को किसी अन्य ओर लगाने से पूरा लाभ नहीं होता। यह सारा अचेतन और अर्धचेतन मन तो भीतर-ही-भीतर गांठे बाधता ही रहता है। अन्तर्मन की गहराइयो मे जहा विकार गहरा चला गया, वहां ग्रथि-पर-ग्रथि बंधती ही जा रही है। अन्तर्मन की खोज करते-करते सारे शरीर सबधो को देख लिया। सारे चित्त सबधो को देख लिया और इन दोनो का अतिक्रमण कर इनके परे की जो अवस्था है, जो नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, उसे भी देख लिया। इस प्रकार स्वय अनुभूति द्वारा परम सत्य को जान लिया तो प्रकृति का सारा रहस्य समझ मे आ गया। उन्होने बतलाया कि जीवन की कठिनाइयो से भागो मत, अभिमुख होकर उनका सामना करो। क्रोध आया तो क्रोध को देखो, भय आया तो भय को देखो। इस प्रकार यदि देखना आ गया तो इन विकारो का शमन होने लगेगा। "उपज्झित्वा निरुज्झन्ति तेस उपसमो सुखो।" उदय हुआ, नष्ट हुआ एकदम शमन हो गया। मिलने लगा सुख।

लेकिन एक बडी समस्या फिर रह गयी। क्रोध कैसे देखा जाय ? विकार को कैसे देखा जाय ? जब क्रोध आता है तो होश ही नहीं रहता। क्रोध को देखें कैसे ? कभी यह होश भी आ जाय कि क्रोध आया है और उसे देखना है। परन्तु जब देखने का प्रयत्न किया जाय, तो यही होगा कि जिस घटना को लेकर क्रोध आया है, जिस व्यक्ति या वस्तु के कारण क्रोध पैदा हुआ, उसी का बार-बार स्मरण होगा। वह आलबन उद्दीपन का काम करेगा। सही माने मे क्रोध तब ही देखा जा सकेगा, जब उसका आलबन काट दिया जाय। पर अमूर्त क्रोध, अमूर्त वासना को कैसे देखें ? तो उन महापुरुषो ने एक और रास्ता खोजा। धर्म बुद्धि-विलास के लिए थोडे है ? अनुभूतियो से जाना गया धर्म ही वास्तव मे धर्म है।

अनुभूतियो के स्तर पर सत्य के दर्शन करते हुए एक महत्वपूर्ण बात और देखी गयी। जब-जब चित्त पर कोई विकार जागता है, तो शरीर के स्तर पर दो घटनाए तत्क्षण घटनी शुरू हो जाती हैं। बहुत स्थूल स्तर पर सास अपनी स्वाभाविकता खो देता है। अस्वाभाविक हो जाता है और सूक्ष्म स्तर पर सारे शरीर मे कही-न-कही, कोई-न-कोई

जीव-रासायनिक प्रतिक्रिया तीव्र रूप से शुरू हो जाती है। कोई सवेदना शुरू हो जाती है। हो ही जाती है। क्रोध आया तो सारे शरीर में गर्मी आनी शुरू होगी। वासना जागी तो स्पदन शुरू होगा। भय जागा तो कपन शुरू होगा। प्रकृति का यह नियम है। यह चित्त-धारा और शरीर-धारा अलग नही है। दोनो की यानी "नाम-रूप" की यह धारा, जीवन की यह धारा एक साथ चलती है। अन्योन्याश्रित है। एक-दूसरे का, एक-दूसरे पर प्रतिक्षण प्रभाव पडते रहता है। इसीलिए इन्हे सहज कहा गया। सहजात कहा गया। एक साथ उत्पन्न होते हैं। जहा चित्त मे विकार उत्पन्न हुआ, साथ-साथ शरीर मे सवेदना उत्पन्न हुई। अमूर्त विकार को साक्षात्कार करके देखना साधारण व्यवित के लिए आसान नही है। पर धर्म तो साधारण व्यक्ति के लिए है। अत साधारण व्यक्ति के लिए रास्ता दिया गया कि विकार के कारण इस शरीर मे जो कुछ भी हो रहा है, उसे देखें। सास को देखना शुरू कर। सास देखते-देखते सवेदनाओ को देखना शुरू कर। उत्पन्न विकार को देखने का काम अपने आप शुरू हो जायगा।

रोज-रोज विपश्यना के अभ्यास से इतना पक जायगे कि ज्यो ही कुछ हुआ, सास मे जरा भी अस्वाभाविकता आयी, चेतावनी मिल गयी। तुरत सास को देखने लगेंगे। सवेदना जागी, तुरत सवेदना को देखने लगेंगे। विकार का अवलवन कोई भी हो—क्रोध हो, वासना हो या और कुछ, एकदम क्षीण होने लगेगा। सास और सवेदना देखेंगे तो बाह्य कारण को इतना महत्व नही देंगे। क्रोध आया तो सवेदना ही देखी। क्रोध क्षीण होता चला जायगा। न दमन किया, न खुली छूट दी। दमन और छूट से वचने के लिए मध्यम मार्ग अपनाया। केवल देखो। विपश्यना करो!

जब अन्तर्मुखी होकर देखने का काम शुरू करेंगे, तो जीवन जीने का रास्ता मिल जायगा। जब-जब जीवन मे कोई घटना घटेगी और हमे व्याकुल करेगी तो एकदम सास को देखने लगेंगे, सवेदनाओ को देखने लगेंगे। घटना का प्रभाव नही होगा। अन्ध प्रतिक्रिया नही करेंगे। यदि अध प्रतिक्रिया हो भी गयी तो लवे अर्से तक नही चलेगी। ज्यो-ज्यो साधना मे पकने लगेंगे, विकारभरी व्याकुलता का समय कम होने

लगेगा। साधना की सफलता का यही मापदड होगा। समय तो लगेगा ही। स्वभाव को पलटने मे, सुधारने मे समय तो चाहिए ही। धीरे-धीरे खूब समझ मे आने लगेगा कि हमारे दुख का कारण बाहर के व्यक्तियो मे, वस्तुओ मे, घटनाओ मे नही है। भीतर ही है। उसे दूर करना है।

ज्यो-ज्यो अन्तर्मुखी होकर साधना मे पुष्ट होते जायगे, चित्तधारा के चार चेतना-खण्डो की प्रक्रिया अच्छी तरह से समझने लगेंगे। जो विज्ञान खड है, वह तो केवल जानने का काम करता है। जो सज्ञा है वही धोखा देती है, पूर्व सस्कारों से प्रभावित होती है। अतः सही रूप से पहचानने मे भूल करती है। जैसी पहचान होती है, वैसी ही वेदना होती है और फिर वैसी ही प्रतिक्रिया होती है। यह सज्ञा जैसी छाप बनायगी, वैसी ही प्रतिक्रिया होगी। यह भी ठीक तरह से स्पष्ट होने लगेगा कि सज्ञा का निर्माण हम ही कर रहे हैं। इसने दूसरा व्यक्ति क्या करेगा? यह बात प्रवचनो से समझ मे नही आयगी। बुद्धिविलास से समझ मे नही आयगी। जितने-जितने अनुभव मे पकेंगे, भीतर से संवेदना को देखने के अनुभव मे पकेंगे, हर संवेदना गहरी सच्चाई की ओर ले जायगी। सवेदना के मूल कारण की ओर ले जायगी। किसी अमुक सवेदना से आनद हुआ, सुख हुआ, दुख हुआ। यह क्यो हुआ? एकदम समझ मे आ जायगा। जहा सवेदना को साक्षीभाव से देखने लगेंगे। सारी बातें उभर कर सामने आने लगेंगी। पता लगेगा कि कारण तो इस "मैं-मेरे" मे है। इस "ममभाव" मे, इस "अहभाव" मे है। इस "मैं" के साथ हुई गहरी आसक्ति मे है। जो-जो सबध किसी व्यक्ति के साथ-साथ जुडता है, वह "मैं" और "मेरे" तथा "मेरे-सपनो" को लेकर ही जुड़ता है। यदि कोई व्यक्ति बहुत प्यारा लगता है तो इसलिए लगता है कि वह मेरे सपनो मे सहायक है। जरा-सा पता लगे कि वह व्यक्ति मेरे सपनो के पूरा होने मे बाधक है, तो कितना ही प्यारा क्यो न हो, सारा प्यार समाप्त हो जाता है। जिसे हम अपना कहते हैं, स्वजन कहते हैं, जिनके प्रति खूब प्यार उमडता लगता है, वस्तुतः वह प्यार उस व्यक्ति के प्रति नही, अपने सपनो के प्रति है। अपने आपके प्रति प्यार है, अपनी कामनाओ के प्रति प्यार

है। यह बात अनुभूति से जब सवेदनाओ को देखेंगे तो खूब समझ मे आने लगेगी। यह बात जितनी-जितनी समझ मे आने लगेगी, विपश्यना मे पकते चले जायगे। समझेंगे स्वप्न लेना उतनी बुरी बात नही है, परन्तु स्वप्नो के साथ चिपक जाना बहुत बुरा है, बहुत व्याकुलता लाता है। सारी बातें जब अन्तर्मुखी होकर समझने लगेंगे, तो जीवन के व्यवहार मे सुधार आयगा ही।

जीवन मे धर्म का प्रभाव आना ही चाहिए। आ रहा है तो काम की बात है। अन्यथा धोखा है। लोगो के साथ मेरा व्यवहार सुधर रहा है या नही ? साधना की सफलता का यही मापदण्ड है। यदि कोई व्यक्ति हमारे साथ दुर्व्यवहार करेगा तो प्रतीत होगा कि बेचारा अन्दर से कितना दुखी है, तप्त है। उसके प्रति क्रोध नही जागेगा। घृणा नही जागेगी। उसके प्रति मैत्री जागने लगेगी। करुणा जागने लगेगी।

जीवन मे बहुत बार ऐसी स्थिति आयगी, जब कड़ाई से काम करना पड़ेगा। लेकिन भीतर कटुता नही जागने देंगे। भीतर तो प्यार और करुणा ही होगी। जीवन मे आवश्यकता पडने पर अन्य का सामना करना होगा। धर्म का बडा बल होता है। धर्म कायरता नही सिखाता, परिस्थितियो का सामना करने की क्षमता देता है। लेकिन अन्याय का सामना करते समय व्याकुलता नही होगी। अन्यायी के प्रति क्रोध नही होगा। प्यार होगा, करुणा होगी। यदि कोई नम्र भाषा मे समझता ही नही है, तो कठोर भाषा का व्यवहार भी जीवन मे करना पडेगा। लेकिन ऐसी परिस्थितियो मे जब कठोर व्यवहार करना पडे, मन मे करुणा ही होगी। ठीक इसी प्रकार जैसी मा के हृदय मे अपने बच्चे के प्रति करुणा होती है और बच्चे को गलती से रोकने के लिए मा उसके प्रति कठोरता का व्यवहार भी करती है। यदि रोगी बच्चा सन्निपात मे आकर मां को गाली दे, तो मां के हृदय मे असीम प्यार ही उमडता है, करुणा ही उमडती है। हमारा व्यवहार भी इसी प्रकार करुणामय होगा। हमारे सारे व्यवहार का आधार प्यार और करुणा होगा। ●

चर्चा-ही-चर्चा करे, धारण करे न कोय ।
धर्म विचारा क्या करे ? धारे ही सुख होय ॥

शब्द विचारा क्या करे ? अर्थ न समझे कोय ।
अर्थ विचारा क्या करे ? धारण करे न कोय ॥

शुद्ध धरम का शान्ति पथ, सम्प्रदाय से दूर ।
शुद्ध धरम की साधना, मंगल से भरपूर ॥

धरम जगे तो सुख जगे, सब विधि मगल होय ।
अन्तर की गांठें खुले, मानस निर्मल होय ॥

धरम हमारा बन्धु है, सखा, सहायक मीत ।
चले धरम की रीत ही, रहे धरम से प्रीत ॥

सुख आये नाचे नही, दुख आये नहिं रोय ।
दोनो मे समता रहे, तो ही मगल होय ॥

दसवां दिन

हमारी साधना का दसवा दिन पूरा हुआ। इन दस दिनो मे इस कल्याणकारी साधना के जितने कदम उठाये, फिलहाल वही बहुत हैं। इससे इस विधि की एक रूपरेखा सामने आयी।

इसके आगे भी कुछ कदम और हैं। उन पर अभी चर्चा नही करेंगे। उनसे सबध रखने वाले सिद्धान्तो पर भी चर्चा नही करेंगे, क्योकि सिद्धान्त श्रौर अभ्यास साथ-साथ कदम मिलाकर चलने चाहिए।

आज की धर्म-चर्चा मे जो दस दिन मे सीखा है, उस पर एक बार फिर दृष्टि डालकर देखेंगे। इस विधि की अपनी एक विशेषता है। इस मार्ग का अपना एक अनूठापन है। इस विशेषता को समझते रहेगे तो इसकी शुद्धता कायम रखेगे। विशेषता की बात ही समझ मे नही आयगी तो सम्मिश्रण करने लगेंगे। सम्मिश्रण करने लगेंगे तो जो लाभ मिलना चाहिए वह नही मिलेगा।

भगवान ने एक जगह कहा कि दो प्रकार के मनुष्य मिलने बड़े दुर्लभ होते हैं—एक तो वह, जो विना बदले मे कुछ पाने की ज़रा-सी भी भावना न रखते हुए औरो की सेवा करने वाला हो और दूसरा जो कृतज्ञ हो। जिस महापुरुष ने यह खोयी हुई विद्या खोज निकाली, यद्यपि उसे इस बात की ज़रा भी इच्छा नही रही कि लोग उसके नाम की पूजा करें, लोग उसका यश गाए, लेकिन हमे जो यह विधि प्राप्त हुई, उसके पच्चीस सौ वर्ष पूर्व के महाकारुणिक उपदेशक भगवान गौतम बुद्ध और उनके बाद की आचार्य परम्परा के जिन लोगो ने इस विधि को

सदियों तक सम्भाल कर रखा, उन सबके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता का भाव जगाना एक मानवीय गुण है, धर्म का बहुत बड़ा गुण है।

काम शुरू करते ही तीन रत्नो की शरण ली थी। बुद्ध की शरण यानी सिद्धार्थ गौतम जो बुद्ध हो गया, उसके प्रति श्रद्धा के भाव व्यक्त हो, कृतज्ञता के भाव व्यक्त हो, यह स्वाभाविक है लेकिन जहां तक शरण का सवाल है, शरण गौतम के प्रति नहीं है। शरण बुद्ध के प्रति है। बुद्ध बोधि का प्रतीक है। बुद्ध कोई भी हो सकता है। उस महापुरुष के प्रति हमारे मन मे श्रद्धा और कृतज्ञता का भाव पनपे, बढे यह एक बात है, लेकिन शरण तो बोधि की ही लेनी है। हमारे भीतर जो अपनी बोधि का बीज है, उसी की लेनी है। उसी को हमे विकसित करना है। जीवन भर बोधि की शरण मे ही जियें। जो काम करें, बोधिपूर्वक करें, समझदारी से करें। काया का काम, वाणी का काम बोधि के साथ करें। अपनी बोधि जगाते-जगाते हम भी मुक्त हो जाय, शुद्ध हो जाय, बुद्ध हो जायं। इस अर्थ मे बुद्ध की शरण ग्रहण की।

फिर धर्म की शरण ग्रहण की। धर्म की शरण ग्रहण करना किसी सम्प्रदाय की शरण ग्रहण करना नही है। धर्म का सम्प्रदाय से कोई लेन-देन नही होता। जो व्यक्ति सम्यक् सम्बुद्ध हो जाता है, जिसे सचमुच बोधि प्राप्त हो जाती है, वह सचमुच मुक्त हो जाता है। वह कोई सम्प्रदाय खड़ा नही करता। सारे जीवन भर वह महापुरुष भी यही चेतावनी देता रहा कि कही मनुष्य धर्म के नाम पर धर्म को ही न भुला दे। धर्म के सार को न खो बैठे। जो-जो व्यक्ति बोधि प्राप्त कर मुक्त हुआ, उसने शुद्ध धर्म ही दिया। किसी संप्रदाय का धर्म नही दिया। शुद्ध धर्म तो सबका है, सार्वजनीन है। धर्म तभी शुद्ध होता है, जब उसमे साम्प्रदायिकता की सीमा नही होती, जाति की भी नही, वर्ग की भी नही। धर्म सबके लिए कल्याणकारी होता है। धर्म की शरण लेने का अर्थ यही है कि मैं धर्म का जीवन जीऊंगा। धर्म के रास्ते चलूंगा।

और फिर संघ की शरण यानी उन व्यक्तियो के चले हुए मार्ग का अनुसरण करना, जिन्होने शुद्ध धर्म को धारण कर, सन्त अवस्था प्राप्त

कर ली, आर्य अवस्था प्राप्त कर ली, चाहे वे गृहस्थ हो या सन्यासी, काले हो या गोरे या भूरे, इस देश के हो या उस देश के। किसी भी जाति या सम्प्रदाय के हो, कोई अन्तर नही पडता। उनसे प्रेरणा प्राप्त होती है। इस माने मे सघ की शरण ग्रहण की ताकि हम भी सन्त अवस्था को प्राप्त हो।

फिर पांच शील लिये। इनका अर्थ भी ठीक तरह से समझें। किसी ने पाच शील लिये इसलिए बौद्ध नही हो गया। परम्पराजन्य शब्दो के प्रति हमारा बड़ा चिपकाव है। अमुक शब्द इस परम्परा वालो के लिए, अमुक शब्द उस परम्परा वालो के लिए चिपकाव का कारण बन गए। हमारे लिए शब्द ब्रह्म हो गया। "पचशील कहें" तो बौद्धो को, "अणुव्रत" कहे तो जैनियो को, "यम-नियम" कहे तो हिन्दुओ को, टेन कमान्डमेन्ट्स कहे तो ईसाइयो को बहुत प्रिय लगे। महज शब्दो के इस्तेमाल से क्या होगा? मूल बात तो यह है कि इन शब्दो से व्यक्त गुण जीवन मे उतरे। ये जो पाच शील लिये उनका पालन धर्म के मार्ग पर चलने के लिए नितान्त आवश्यक है। ये अधारशिलाएं हैं। कोई अपने आपको बौद्ध कहे, जैन कहे, हिन्दू कहे या और कुछ, कोई अन्तर नहीं पडता।

शील पालन करना इसलिए आवश्यक है कि हम एक ऐसे कार्य मे लगे हैं, जो हमारे अन्तर्मन की गहराइयो की खोज का कार्य हैं, अनुसधान का कार्य है। यदि हम पाच शील का पालन नही करेंगे तो हमारी समाधि सम्यक् नही होगी और यदि समाधि सम्यक् नही हुई तो प्रज्ञा नही जाग पायगी और प्रज्ञा नही जागेगी तो हम विमुक्ति का साक्षात्कार नही कर पायगे। हमारा अन्तिम लक्ष्य इन्द्रियातीत अवस्था का साक्षात्कार कर लेना है, भीतर की सारी गाठो को खोल देना है, सारे बन्धनो को तोड देना है। इस "मैं" के बारे मे जो सच्चाई है उसका अनुसधान करना है। अपने शरीर स्कन्ध के बारे मे, चित्त स्कन्ध के बारे मे जानना है, खोज करना है। खोज करना बहुत आसान नही होता, कठिन काम है। किसी सच्चाई को भक्ति भावावेश मे मान लेना बहुत सरल है। पर किसी सच्चाई को अनुभूतियो के स्तर पर मान लेना

यानी जानकर मान लेना कठिन काम है। कुछ अनित्य है तो उसके मुकाबले मे नित्य भी अवश्य है। वह नित्य क्या है ? केवल मान लेने से हमे क्या मिला ? अमृत तो चखा ही नही, उस नित्य का स्वाद तो चखा ही नही। तो सारी खोज, उस नित्य की खोज, उस परम सत्य की खोज, साक्षात्कार के स्तर पर यानी प्रत्यक्ष अनुभूति के स्तर पर करनी होगी।

जब-जब आदमी अपना शील भग करता है, सदाचार भग करता है, अनाचार, दुराचार, हिंसा, चोरी-व्यभिचार करता है, असत्य भाषण बोलता है तो क्या करता है ? उसका मन व्याकुल होता है, व्यग्र होता है। मानसून के मौसम मे समुद्र मे जैसी तूफानी तरगें उठती हैं ऐसी ही तूफानी तरगें उनके मन मे उठती हैं। ऐसी हालत मे अन्तर्मन मे खोज का कार्य कैसे होगा ? इसीलिए साधना के इन दस दिनो शील-सदाचार का कडाई से पालन करते हैं ताकि अन्तर्मन की गहराई तक सत्य की खोज कर सकें। इसलिए शील परम आवश्यक है। यही इस साधना की बुनियाद है।

फिर समर्पण किया। पूरी तरह आत्म-समर्पण। आत्म-समर्पण इसलिए नही कराया कि गुरु महाराज ने जो कुछ कह दिया, अन्धविश्वास द्वारा आख बन्द करके उसे मानना ही पडेगा। इस विधि मे अन्धविश्वास को कही स्थान नही। सारी साधना सत्य के आधार पर चलती है। लेकिन साथ-साथ यह भी नही कि दस दिन तर्क-वितर्क ही होता रहे। इस तर्क-वितर्क से बचें। एक मुमुक्षु की तरह, एक जिज्ञासु की तरह बात पूछनी बहुत आवश्यक है। उसमे सकोच नही करना है। मन मे जो शका उठे, उसे दूर कर लेना चाहिए। लेकिन दस दिन तक अच्छी तरह समझकर समर्पण भाव से, जैसे बताया जावे, ऐसे काम करें। दस दिन तक इस विधि को पूरा इन्साफ देकर देखे। दस दिन के बाद सब अपने मालिक हैं।

जब काम शुरू किया, तो किस तरह काम शुरू किया, उसे समझें। विधि को समझें। सबसे पहले सांस को देखने लगे, सास के साथ कोई शब्द नही जुडने दिया, कोई रूप नही जुडने दिया। नाम का अपना महत्व होता है। बार-बार एक नाम को दोहराते जायगे, तो मन एकाग्र होने

ही लगेगा। रूप का अपना महत्व होता है। जिस रूप के प्रति हमारे मन मे बहुत श्रद्धा है, बार-बार उस रूप की कल्पना मन मे करेंगे तो मन एकाग्र होने ही लगेगा। लेकिन नाम और रूप दोनो को इसलिए दूर रखा गया कि इस मार्ग में चित्त को एकाग्र करने का अपना एक कारण है, लक्ष्य है। लक्ष्य यह है कि अपने भीतर जो स्वाभाविक तरगे हैं उनकी जाच करना है, उनका अनुसधान करना है, उनके बारे मे जानना है।

यदि हमने कोई शब्द इस्तेमाल करना शुरू कर दिया और बार-बार उसी शब्द को दोहराना शुरू कर दिया, तो उसका अपना प्रभाव होगा। हर शब्द की अपनी एक विशेषता है। शब्द एक टकार पैदा करता है, एक तरंग पैदा करता है। जो बीज मन्त्र है, उसकी अपनी तरग है। शब्दो द्वारा जो तरग पैदा करेंगे उसी मे एकदम समाहित हो जायगे। उन तरगो को खूब देख पायगे। पर इस प्रक्रिया से अपनी नैसर्गिक तरगो को देखने से वचित रह जायगे। जब क्रोध आता है, जब वासना जागती है, जब ईर्ष्या जागती है, तो भीतर क्या होता है? उसे देखने से वचित रह जायगे।

हमारा लक्ष्य केवल चित्त की एकाग्रता नही है, केवल समाधि नही है—लक्ष्य है सम्यक् समाधि, जिसका आधार न राग हो, न द्वेष, न मोह। इसीलिए काल्पनिक रूप का ध्यान नही। जहा कल्पना आई कि मोह का आधार हो ही गया, जहा कृत्रिम बात पैदा कर उसे देखने लगे, तो मोह का आधार हो ही गया। हमे नैसर्गिक सास का दर्शन करना है, जो है, जैसा भी सास है, उसे ही देखना है। सास को देखते-देखते सास के स्पर्श को देखने लगे और आगे बढ़े तो सारे शरीर मे होने वाली सवेदनाओ को देखने लगे।

सवेदनाओ को देखने से क्या मिला? वस्तुत. हमे जानना यह है कि हमारे लिए जीवन मे कठिनाइया कैसे पैदा होती हैं? हमे जानना यह है कि जीवन-जगत की इन कठिनाइयो से कैसे निकल सकते हैं। जानना यह है कि अपने मन पर कैसे मैल चढाने लगते है, कैसे गाठें बाधने लगते हैं? जानना यह है कि वह मैल कैसे पैदा न करें? गाठें कैसे न बाधें, बल्कि जो बधी हैं वे कैसे खुलें? उस महापुरुष ने

गहराइयो में जाकर यही तो देखा और वार-बार यह समझाया कि विषयो में रहने वाला व्यक्ति बडा दुखी रहता है। इन्द्रियो के विषय हमे बांधने वाले होते हैं। ऐन्द्रिय विषयो के प्रति आसक्त रहने वाला व्यक्ति भला मुक्ति के रास्ते कैसे जायगा? वह तो और उलझता ही जायगा। लेकिन जहा परम सत्य की ओर जाए, सूक्ष्म सत्य की ओर जाए वहा एक बात समझ मे आयगी कि इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क होने पर विषय मे डूबने की जो वात होती है, उसके पहले एक घटना और घटती है। उन दोनो के बीच की एक कडी और है। केवल विषयो से कोई हानि नही होती, हानि होती है विकारो से। विषय हमारा क्या लेते है? शब्द अपनी जगह है, रूप अपनी जगह है, गन्ध अपनी जगह है, स्पर्श अपनी जगह है, रस अपनी जगह है और चिन्तन अपनी जगह है। उनकी वजह से विकार नही जागता। विकार जागता है इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से। जो सवेदना हुई और जो मूल्याकन हुआ, राग उस पर जागता है, द्वेष उस पर जागता है। यह सचमुच मे बडी खोज हुई। बड़ा रहस्य खोल लिया उस व्यक्ति ने कि जो सवेदना को जानता है, वही जानेगा कि राग कहा पैदा होता है, द्वेष कहां पैदा होता है?

सवेदनाओ के देखने के अभ्यास मे एक बात और समझ लेनी है। जब-जब इन्द्रियो का विषयो से स्पर्श होता है, त्वरित गति से मूल्यांकन होकर सवेदना होने लगती है। और जिस समय स्पर्शजन्य सवेदना होती है, उस समय होश नही रहे तो हम राग या द्वेष जगाने ही लगते हैं। ऐसा स्वभाव बन गया है। विषय तो कायम रहेगे ही, इन्द्रियो का विषयों के साथ सम्पर्क भी होगा ही, लेकिन उसकी वजह से जो विकार जागता है, उस पर रोक लगानी है। रोक जहा सवेदना जगती है, वहा लगानी होगी। हर सवेदना के प्रति राग-विहीन रहना है, द्वेष-विहीन रहना हैं। "वेदना पच्चया तण्हा" हर वेदना के साथ जो तृष्णा जागती थी, राग की तृष्णा-द्वेष की तृष्णा—अब उसकी जगह "वेदना पच्चया पञ्ञा" हर वेदना के साथ प्रज्ञा ही जागेगी, बोधि ही जागेगी। इससे नयी गाठें नही बधेंगी। पुरानी खुलने लगेंगी। सारी खुलने मे समय लगेगा।

लेकिन सही मार्ग मिल गया, सही विधि मिल गयी। काम शुरू हो गया।

काम तो खुद ही करना पड़ेगा। गाठें स्वय ने बांधी हैं। अतः स्वय को ही खोलनी पड़ेंगी। इस खोलने के काम मे प्रकृति खूब मदद करेगी। ऋतु खूब मदद करेगी। अपने भीतर के अहभाव को, अहंकार को निकालना पड़ेगा। यही 'अनात्म' है। दार्शनिको के विवाद वाला आत्मवाद या अनात्मवाद नही। उसे एक तरफ रखें। जहा 'मैं' नही 'मेरा' नही। अहकार का नामो-निशान नही, ममकार का नामो-निशान नही। न हीन भावना है, न अह भावना। मध्यम मार्ग पर चलना है। अपने आप बन्धन खुलने लगेंगे।

दस दिनो की साधना में जो कुछ किया उसे ऐसा क्यो किया, यह समझते रहेंगे तो कही उलझेंगे नही। दार्शनिक मान्यताओ के विवाद मे नही पडता है। लाभ तो विधि के अभ्यास से मिलने वाला है। जहा तक विधि का सवाल है, उसे किसी अन्य साधना-विवि से मिश्रित नही करना है। इस रास्ते चलकर सचमुच लाभ लेना है, तो इस विधि को शुद्ध रूप में कायम रखना ही पड़ेगा। •

इस दुखियारे जगत मे, सुखिया दिखे न कोय ।
शुद्ध धरम फिर से जगे, जन-जन सुखिया होय ॥

धरती पर बहती रहे, धरम गंग की धार ।
जन-जन का होवे भला, जन-जन का उपकार ॥

धन्य भाग साबुन मिली, निरमल पाया नीर ।
आओ धोए स्वय ही, मन के मैले चीर ॥

चल साधक न्हाने चले, धरम गग के तीर ।
मैल चित्त का धोइहैं, निर्मल मिलिहैं नीर ॥

निर्मल गगा धरम की, सतत् प्रवाहित होय ।
शाप ताप सारे धुलें, अन्तस शीतल होय ॥

अन्तर में डुबकी लगी, भीग गए सब अग ।
धरम रंग ऐसा चढ़ा, चढ़े न दूजा रग ॥

दीक्षान्त प्रवचन

एक-एक करके शिविर के दस दिन पूरे हुए। इस महान धर्म-यज्ञ की पूर्णाहुति का समय आया। काम शुरू करते समय हर साधक से पूर्णतया आत्म-समर्पण कराया गया। समर्पित भाव हो तो ही काम अच्छा होता है। पूरा लाभ मिलता है। इसीलिए समर्पण कराया गया। पर वह समर्पण दस दिनो के लिए था। समर्पण की अवधि पूरी हुई। अब हर व्यक्ति आजाद है। धर्म हमेशा स्वाधीन, स्वतन्त्र बनाता है; पराधीन परतन्त्र नही।

अब अपने-अपने घर जाकर शातिपूर्वक चितन-मनन करेंगे कि इन दस दिनो मे क्या सीखा? जो सिखाया गया, क्या वह युक्तिसगत है? न्याय-सगत है? तर्क-सगत है? बुद्धि-सगत है? लेकिन यही एकमात्र कसौटी नही है। बहुत-सी बातें, जो आज बुद्धि-सगत, तर्क-सगत लगती हैं कुछ दिनो के बाद तर्क-हीन लग सकती हैं। बुद्धि की अपनी सीमाए हैं। तो एक और कसौटी से भी कसकर देखेंगे। क्या इसमे मेरा मगल-कल्याण समाया हुआ है? लेकिन फिर एक कसौटी और रह जाती है—क्या इससे किसी अन्य प्राणी की हानि तो नही होती? क्या औरो का भी मगल समाया हुआ है? जो बात इन तीनों कसौटियो पर खरी उतरती है यानि बुद्धिसगत है, मेरे लिए मगलकारी है और साथ-साथ औरो के लिए भी मगलकारी है, तो समझदार आदमी इसे सहर्ष स्वीकार करता ही है। और सचमुच समझदार आदमी हो, तो केवल बौद्धिक स्तर पर अथवा केवल भावावेश के स्तर पर स्वीकार करके नही रह जाता; बल्कि वास्तविकता के, यथार्थता के स्तर पर स्वीकार करता है। यानी उसे

धारण करता है। उसे जीवन का अग बनाता है। अब किसी के कहने से नही, किसी के दबाव से नही; बल्कि स्वेच्छा से आत्म-समर्पण करता है। किसी व्यक्ति को नही; बल्कि धर्म को आत्म-समर्पण करता है। किसी अवधि तक नही; बल्कि जीवन भर के लिए आत्म-समर्पण करता है। "जीवित परियत धम्म सरण गच्छामि" जीवन भर के लिए धर्म की शरण आ गया हू। अब तो यथाशक्ति सारा जीवन धर्म का ही जीवन जियेगा, मगल का ही जीवन जियेगा। अपना भी मगल साधेगा, औरो का भी मगल साधेगा।

दस दिन स्वय अनुभव करके देख लिया कि विद्या काम की है। परन्तु यह तो प्रारभ मात्र है। रास्ता लबा है। दस दिन मे तो केवल एक रूप-रेखा मात्र मिलती है। सारे जीवन भर का काम है। सारा जीवन कैसे जियें? शातिपूर्वक, सुखपूर्वक, जिसमे हमारा भी मगल सधे, औरो का भी मगल सधे? यही धर्म का व्यावहारिक पक्ष है। जो व्यवहार मे उतरे, वही व्यावहारिक। जो सिद्धान्तो तक रह जाय, ऐसा सैद्धान्तिक पक्ष हमारे काम का नही। उससे केवल प्रेरणा मिल सकती है, मार्ग-दर्शन मिल सकता है। बस, और कुछ नही। लाभ व्यवहार से ही होता है।

यहा दस दिन तक इस धर्म-कारावास मे बदी बनकर आए और रहे। किसलिए? यही सीखने के लिए कि धर्म का व्यावहारिक पक्ष कैसे निभाया जा सकता है? शील का पालन करते हुए कैसे मन को वश मे किया जा सकता है? मन की तल स्पर्शी गहराइयो तक जाकर कैसे जागते हुए राग अथवा द्वेष को देखकर उन्हें रोका जा सकता है? यही सीखने आए। दिन भर यही अभ्यास करते रहे। हर शाम की धर्म-चर्चा महज इस स्पष्टीकरण के लिए होती थी कि अभ्यास कैसे करें? लेकिन जहा धर्म-चर्चा होती है और धर्म के व्यावहारिक पक्ष को शब्दो मे समझाया जाता है, वहा धर्म का सैद्धान्तिक पक्ष भी उजागर होता ही है। अलग-अलग सैद्धान्तिक विचारधाराओ और परपराओ से आये हुए साधको मे से किसी को लगे कि अमुक बात हमारी परम्परागत मान्यताओ से मेल नही खाती, तो भले उसे अलग रखे। सिद्धात की जितनी-जितनी बातें ठीक लगें, अपनी मान्यताओ से मेल खाती लगें, उतनी-उतनी स्वीकार करे। भविष्य मे

जब कभी समझ मे आ जाय तब स्वीकार लेना। इससे कुछ नही खोयेंगे। मुख्य बात तो व्यावहारिक पक्ष की है।

व्यावहारिक पक्ष शील-सदाचार है, समाधि है—मन को वश मे करना है, प्रज्ञा है—चित्त को राग-विहीन, द्वेष-विहीन बनाने का काम है, निर्मल बनाने का काम है। उसे मैत्री, करुणा आदि सद्गुणो से भरने का काम है। इसमे भला कोई कैसे विरोध करेगा? ये जो तीन बातें हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा, बस यही धर्म का सार है। इस दायरे के बाहर जो सिद्धान्त की बात है, वह यदि समझ मे न आए, स्वीकारी न जा सके, तो उसे छोड देने मे बहुत हानि नही।

धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष की बात व्यावहारिक धर्म को पुष्ट करने के लिए ही कही जाती है। बड़े प्यार से कही जाती है। किसी विरोध-भाव से नही। पर मुख्य बात व्यवहार की है, अभ्यास की है। शील धारण करने की है; समाधि मे पुष्ट होने की है; प्रज्ञा द्वारा चित्त को निर्मल करने की है। इसके विरोध के लिए कही स्थान नही।

दस दिन के अभ्यास से इस विद्या की एक धूमिल-सी रूप-रेखा सामने आयी। दस दिन मे तो मानो किसी उपजाऊ धरती मे बडा मूल्यवान बीज बोया गया। उपजाऊ धरती है। इसलिए यह मूल्यवान बीज फूटकर बाहर आ गया, अंकुरित-प्रस्फुटित हो गया।

अब यह जो नन्हा-सा धर्म का पौधा फूटकर बाहर आया है, कुशल माली की तरह उसकी खूब सम्भाल करनी है। समझदार माली नन्हे-से बिरवे की बहुत सेवा-सभाल करता है। उसके चारो ओर बाड लगाता है। कोई गाय या बकरी न चर जाय। समय पर पानी देता है, समय पर धूप-छाह। यो सेवा करते-करते जब वह पौधा बढकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, गहरी जडो वाला, मोटे तने वाला तब किसी की सेवा नही लेता। वह स्वय अपनी देखभाल कर लेता है। प्रकृति से अपनी जरूरतें स्वय पूरी कर लेता है; बल्कि बदले मे सारे जीवन सेवा देता है। जो पैदा करता है, सो देता ही है। कितनी शीतल छाया, कितने सुन्दर फूल, कितने मीठे फल। पहले जितनी सेवा ली, उससे कई गुना देने लगा।

यह धर्म का बिरवा भी ऐसा ही है। शुरू-शुरू मे खूब सेवा-सुरक्षा चाहता है। इसके चारो ओर बाड़ नही लगायगे तो कोई गाय-बकरिया चर ही जायेंगी। यहा दस दिन रहते हैं तो बाड़ लगी रहती है। बाहर जायगे तो हो सकता है अपनी परम्परा का कोई व्यक्ति कहे, "अरे कहा गए थे ? उनकी मान्यताए तो हमारी परम्परा के बिल्कुल विपरीत। उनमे गए कि डूबे ! अपनी परम्परा के तो ये सिद्धान्त वो सिद्धान्त।" फिर वही बुद्धि-विलास, वाद-विवाद, तर्क-वितर्क चला कि सारी साधना छूट गयी। चर गयी गाय-बकरिया। बचाना है तो चारो ओर बाड लगा रखेंगे। कैसी बाड ? ऐसे अवसर पर यही उत्तर देंगे कि दार्शनिक सिद्धान्तो की बात इस बाडे के बाहर। यह तो व्यवहार का, अभ्यास का बिरवा है। शील, समाधि और प्रज्ञा का बिरवा है। इसमे कही झगडा नही है। इस प्रकार बाड लगाकर सब झगड़ो को एक तरफ रखेंगे। बस बच गया बिरवा।

और फिर इस बिरवे को सुबह-शाम सीचना होगा। कैसे सीचेंगे ? सुबह घटे भर, शाम को घटे भर ध्यान करना ही होगा। अन्यथा बिरवा सूख जायगा। प्रारम्भ मे दो घटे निकालने में कठिनाई मालूम होगी। लेकिन साधक शीघ्र देखेगा कि खूब समय मिलने लगा है। देखेगा कि रोजाना रात को जितनी देर सोया करता था, अब एक घटे कम मे ही नीद पूरी होने लगी। इतनी नीद की जरूरत नही। यो घटा भर तो नीद मे से ही आसानी से निकल जायगा। फिर आलस और गप्पो मे जो समय खराब करता था, वह बचने लगेगा। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति जिस काम, धधे, रोजी, पेशे मे है, वह देखेगा कि अब रोज सुबह-शाम विपश्यना करने की वजह से अपनी जिम्मेदारी ज्यादा अच्छी तरह और ज्यादा जल्दी पूरी करने लगा। जो काम आठ घटे मे पूरा करके थक जाता था, अब देखेगा कि वह सात ही घटे मे पूरे हो गया और स्फूर्ति बनी हुई है। विपश्यना के अभ्यास से काम करने की शक्ति, क्षमता बढेगी। काम अच्छा होगा। परिणाम अच्छे आयगे। सफलता अधिक मिलेगी। जो जिस क्षेत्र मे काम करता है, उसमे उन्नति करता चला जायगा। धर्म पलायन के लिए नही है। अभिमुख होकर जीने के

लिए है। जीना आ जायगा। अपनी जिम्मेदारियो के प्रति अभिमुख होकर जियेंगे। स्वत. समाधान मिलने लगेगा।

अपनी-अपनी दिनचर्या की अनुकूलता के आधार पर सुबह-शाम एक-एक घटे का समय निश्चित कर लें। जहा तक हो सके निर्धारित समय पर ही साधना करें। इसका अपना लाभ होगा। एक आदत बन जायगी। लेकिन किसी कारण यदि निश्चित समय पर ध्यान न कर पाये, तो उस दिन का ध्यान छूटे नही। जब समय मिला तब कर ले।

इसी तरह एक स्थान निश्चित कर लें। उसी स्थान पर उसी आसन पर ध्यान करने का अपना प्रभाव होता है। ध्यान के लिए अलग कमरा हो तो बहुत अच्छा, नही तो अपने रहने के कमरे मे एक छोटा-सा स्थान निश्चित कर लें जहा केवल विपश्यना साधना ही करें। तो देखेंगे नित्य-प्रति की विपश्यना साधना की राग-विहीन, द्वेष-विहीन, मोह-विहीन तरगें उस स्थान को एक तपोभूमि जैसा बना देंगी। इसका बडा लाभ होगा। परतु यदि किसी कारणवश किसी दिन निश्चित स्थान पर ध्यान न कर सके तो उस दिन का ध्यान छोडेंगे नही। जहा कही सुविधा मिले, वही करेंगे। मुख्य बात यह है कि दिन मे दो बार एक-एक घटे साधना अवश्य करेंगे। नियमित साधना न करने की बाधा अधिकतर पहले वर्ष मे ही आती है। फिर नही आती। सहज हो जाती है। अत: वर्ष भर मन को दृढ करके दिन मे दो बार एक-एक घटे साधना करें ही।

और फिर रात को जब लेटें तो आख बद करके, भले पाच मिनट ही सही, शरीर मे जहा जो कुछ हो रहा है उसे जानते-जानते सोयें। सुबह आख खुलते ही पहला काम पाच मिनट तक शरीर की सवेदना को जानना। यो अनित्य बोध मे सोयेंगे, अनित्य बोध मे जागेंगे। इसका बहुत बडा लाभ होगा।

इसके अतिरिक्त जिस गाव मे, मोहल्ले मे एक से अधिक विपश्यी साधक रहते हो, उन्हे चाहिए कि सप्ताह मे कोई एक दिन, कोई एक समय, कोई एक स्थान निश्चित कर लें और वहा सामूहिक साधना करें। सामूहिक साधना का अपना बडा लाभ होगा।

इसके अतिरिक्त साधना मे परिपुष्ट होकर उसका पूरा-पूरा लाभ

लेना है तो सुबह-शाम का अभ्यास जितना आवश्यक है उतना ही साल मे एक बार दस दिन का शिविर। ऐसे किसी तपोभूमि के सार्वजनिक शिविर मे शामिल हो जाय तो बहुत अच्छी बात है। वातावरण का लाभ मिलेगा। अन्यथा अपना शिविर स्वयं लगाए। स्वय शिविर लगाना ज्यादा अच्छा है। धीरे-धीरे साधक को स्वाधीन होना चाहिए। अपने पाव पर खडा होना चाहिए। पहला शिविर किसी के मार्ग-निर्देशन मे करना अनिवार्य है। परन्तु हमेशा किसी गुरु की, मार्ग-दर्शक की बैसाखी लेकर चलेंगे तो मुक्त नही हो सकेंगे। स्वय-शिविर हमे मुक्त बनाता है, स्वावलवी, स्वाधीन बनाता है। अपने पाव पर खड़े होने की हिम्मत आती है। स्वय-शिविर ऐसे ही करेंगे जैसे यह शिविर किया। यही नियम, यही अनुशासन।

काम शुरू करते ही तीन रत्नो की शरण लेंगे। खूब समभकर शरण लेंगे। आठ शील लेंगे और उनका कडाई से पालन करेंगे। तीन दिन आना पान और चौथे दिन से विपश्यना करेंगे। सब कुछ इसी तरह करना है जैसे वहा किया। स्वयं-शिविर का वही लाभ होगा जो यहा हो रहा है।

एक बात और समझें। नियमित विपश्यना करते हुए घर-बाहर की अपनी जिम्मेदारिया अवश्य निभायें। जो व्यक्ति जिस काम मे, जिस जिम्मेदारी मे लगा है उसे बखूबी पूरा करना ही उसका समय का ध्यान है। काम के समय काम मे सारा ध्यान लगाए, ताकि काम मे पूरी सफलता मिले। उस समय सवेदना या सास देखना चाहेगे तो कठिनाई हो जायगी। आधा मन यहा, आधा मन वहा। न यह होगा, न वह होगा। इसलिए जब कोई काम करें, तो सारा ध्यान उस काम मे रखे। खूब कुशलता से सपन्न होगा वह काम।

लेकिन जब कभी अवकाश मिले, आराम करना हो तो आखें खुली हो, मन भीतर हो। कभी समय नष्ट नही करें। एक बात और ध्यान मे रखें—कभी धर्म का दिखावा नही करें। अन्य लोगो के बीच कभी आखें बद कर ध्यान न करें। ऐसा करेंगे तो भीतर अहकार जागेगा। मैं बडा ध्यानी हू। जहा धर्म का दिखावा हुआ कि भीतर से खोखला पन आया।

भीतर धर्म नही है इसलिए दिखावा चाहता है। अगर है तो क्या दिखावा करेगा ? व्यवहार बोलेगा कि धर्मवान है।

साथ ही अपने आपको जाचते रहेगे कि जीवन मे सुधार आ रहा है कि नही ? अनचाही बात होने पर पुरानी आदत की वजह से चिड़चिड़ा उठेंगे। किसी के साथ बुरा व्यवहार भी कर लेंगे। पर देखना यह होगा कि कितनी जल्दी होश आकर कितनी जल्दी समता मे स्थापित हुए और कितनी जल्दी उसी व्यक्ति के प्रति मगल मैत्री जागने लगी। बस यो अपने आपको जाचते-परखते रहेगे। ऐसे परखते रहेगे तो ही जानेंगे कि विपश्यना कर्म काड नही बन रही है। धर्म के रास्ते ठीक चल रहे हैं। विपश्यना साधना करें तो जीवन मे अन्तर आना ही चाहिए। जीवन पहले से अधिक सुखी होना ही चाहिए। मगलमय होना ही चाहिए।

बडा अनमोल रत्न मिला है। इसे सभालकर ही नही रखना है; बल्कि इसका सवर्धन करना है। धर्म का जितना-जितना सवर्धन होगा उतना-उतना अधिक मगल सधेगा। सारे मगल, सारे सुख भीतर ही समाये हुए हैं। अभ्यास करते जाय, धर्म मे पकते जाय और अपना सही मगल साधते जाय। अपने मगल मे लोक-मगल समाया हुआ है। लोक-मंगल मे अपना मगल समाया हुआ है। धर्म मे सबका मगल समाया हुआ है। ●

द्वेष और दुर्भाव का, रहे न नाम निशान ।
स्नेह और सद्भाव से, भर लें तन मन प्राण ॥

मन मानस मे प्यार ही, उर्मिल-उर्मिल होय ।
रोम-रोम से ध्वनि उठे, मगल-मगल होय ॥

दूर रहे दुर्भावना, द्वेष रहे सब दूर ।
निर्मल-निर्मल चित्त मे, प्यार भरे भरपूर ॥

मेरे अर्जित पुण्य में, भाग सभी का होय ।
मेरे सुख में शान्ति मे, भाग सभी का होय ॥

मैं करता सबको क्षमा, करे मुझे सब कोय ।
मेरे तो सब स्वजन हैं, नही पराया कोय ॥

नमन करें हम धरम को, धरम करे कल्याण ।
धरम सदा रक्षा करे, धरम बड़ा बलवान ॥

सबका मंगल, सबका मगल, सबका मंगल होय रे ।
तेरा मगल, तेरा मंगल, तेरा मंगल होय रे ॥
दृश्य और अदृश्य सभी, जीवों का मगल होय रे ।
जल के थल के और गगन के, प्राणी सुखिया होय रे ॥
दशों दिशाओं के सब प्राणी, मगललाभी होय रे ।
निर्भय हो निर्वैर बनें सब, सभी निरामय होय रे ।
जन-जन मगल, जन-जन मगल, जन-जन मगल होय रे ॥

४. कुछ प्रेरक प्रसंग

१/

जिस प्रकार हडिया मे जले हुए शाक को देखकर किसी साधिका के मन मे अपने सभी कर्मबीजो को विपश्यना साधना द्वारा भून लेने का प्रेरक उत्साह जागा, उसी प्रकार अतीतकाल के अनेक ऐसे प्रसग हैं, जिनसे प्रेरित होकर साधक-साधिकाए विपश्यना साधना मे अत्यत उत्साहपूर्वक जुट गए और परम मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए।

भगवान के जीवनकाल की एक अन्य घटना।

कोसल नरेश प्रसेनजित के ब्राह्मण राजपुरोहित की पुत्री दंतिया। भगवान के सपर्क मे आयी यानी धर्म के सपर्क मे आयी। श्रावस्ती मे अनाथपिडक द्वारा निर्मित जेत वन विहार मे अनेक भिक्षु-भिक्षुणियां, गृहस्थ पुरुष-स्त्रिया ध्यान-साधना किया करते थे। यह श्रद्धावहुल ब्राह्मण-पुत्री भी यही कुछ दिनो साधना सीखती रही। कुछ प्रगति हुई तो गृहस्थ न रहकर भिक्षुणी वनने का वैराग्य-भाव मन मे जागा। अतः महाप्रजावती गौतमी से प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी वनी और विपश्यना भावना मे रत रहने लगी।

एक वार भिक्षुणी सघ के साथ क्रमश. यात्रा करते हुए राजगिरि गई और वहीं भिक्षुणी विहार मे रहने लगी। एक दिन मध्याह्न भोजन के वाद गिज्जकूट पर्वत पर किसी पेड़ के नीचे वैठी विचारमग्न थी। तब उसने देखा कि एक महावलशाली विशालकाय हाथी नीचे नदी मे जल-

विहार करके तट पर विश्राम कर रहा है। इतने मे एक अकुशधारी महावत वहा आया। उसने हाथी को आदेश दिया "पाव पसार।" हाथी ने अपना पाव पसार दिया, जिस पर चढकर महावत हाथी की पीठ पर जा बैठा। हाथी उसके आदेशो को मानते हुए शहर की ओर चल दिया।

ऐसा महान बलशाली विपुल देहधारी गजराज यदि चाहता तो उस छोटे-से आदमी को अपने पाव तले कुचलकर उसका कचूमर निकाल देता। परन्तु उसने ऐसा नही किया। यह मनुष्य का गुलाम हो गया था। उसके हुक्म का ताबेदार बन गया था। उसका सेवक बन गया था। हितैषी बन गया था।

भिक्षुणी सोचने लगी, "जब एक अकुशधारी महावत ऐसे शक्तिशाली प्राणी को अपने वश मे कर सकता है, तो मैं अपने मन को वश मे क्यो नही कर सकती? अवश्य कर सकती हू।" इस प्रसग से प्रेरणा प्राप्त कर भिक्षुणी दतिया ने दृढसकल्प धारण किया और समीप के वन मे प्रवेश कर मुक्तिदायिनी विपश्यना के अभ्यास मे जी-जान से जुट गयी। अथक परिश्रम द्वारा वह अचिरकाल मे ही मानस के सभी कषायो को निर्जरा करके अर्हत अवस्था मे प्रतिष्ठित हुई। भवचक्र से मुक्त हुई। मानव जीवन सफल कर लिया।

ऐसी ही एक और घटना।

महानगरी श्रावस्ती के एक महावत के घर एक बालक का जन्म हुआ। बालक हत्यारोहपुत्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वयस्क होने पर उसने कुल-गत हस्ति-वशीकरण विद्या मे पूर्ण निपुणता प्राप्त कर ली। चड-से-चड स्वभाव वाले मदमस्त हाथियो को अत्यत कुशलतापूर्वक वश मे करना सीख लिया। एक बार वह किसी हाथी को वश मे करने के काम मे लगा हुआ था। एकाएक एक विचार उठा। "क्या मैं सारे जीवन इन चड हाथियो को ही वश मे करता रहूगा ? कभी अपने चड स्वभाव वाले मन को भी वश मे कर सकूगा या नही ?" इस कुशल चिंतन से अभिभूत होकर वह जेत वन विहार आश्रम मे गया। वहा भगवान की धर्मदायी अमृतवाणी सुनकर यही निर्णय किया कि मेरे लिए अपने मन को वश मे

करना अधिक उपयोगी है। उसे पालतू बनाने मे अपना श्रम लगाना चाहिए। जगली हाथी को पालतू बनाकर मैं जितना लाभान्वित होता हू, उससे कही अधिक लाभ इस जगली मन को पालतू बनाने से प्राप्त होगा। यह जबतक जगली है, तबतक बहुत बड़ा दुश्मन है। पर वश मे हो जाय, पालतू बन जाय तो बहुत बड़ा मित्र बन जायगा, हितैषी सेवक बन जायगा। इस प्रकार सद्धर्म के प्रति अत्यत श्रद्धावान होकर घर से बेघर हो, भिक्षु बन गया।

भगवान से साधना की विधि सीखकर वह चिरकाल तक विपश्यना के अभ्यास मे रत रहा। पर मन वश मे नही हो रहा था। भूत-भविष्य की विभिन्न कामनाओ मे, सुखद कल्पनाओ मे लोट-पलोट लगाता रहता था। बडा ही दुर्दमनीय हो उठा था मन।

ऐसे समय उसे अपनी हस्तिविद्या का कौशल्य याद आया। किस प्रकार दुर्दमनीय हाथियो को कुशलतापूर्वक अपने वश मे कर लिया करता था। उस कार्य मे कितना धीरज रखना पडता था। मतवाले हाथी को कब कितनी छूट देनी होती थी, कब कितना अकुश लगाना पडता था, किस चतुराई के साथ उसे वशवर्ती किया जाता था। इस चितन से उसके भीतर एक बिजली-सी कौंधी। बस इसी प्रकार इस निरकुश मन को भी निग्रहित करना होगा। बहुत मनमानी कर ली इसने। बहुत दौड चुका इधर-उधर। बहुत होश खोए रहा यह। अब तो इसे पालतू बनाना ही होगा।

इस दृढसकल्प के साथ स्वेच्छाचारी मन को वह वश मे करने के काम मे उसी प्रकार लग गया, जिस प्रकार कि उन्मत्त हाथी को अकुश के सहारे वश मे किया करता था। धीरज और लगन के साथ काम करते-करते वह अपने शुभ प्रयत्नो मे सफल हुआ। स्रोतापन्न, सकृदागामी और अनागामी अवस्थाओ को पार करते हुए उसने अर्हंत के अमृतपद का साक्षात्कार कर लिया। कृतकृत्य हुआ! जीवनमुक्त हुआ! धन्य हुआ!

२/

भगवान के जीवनकाल की एक घटना।

राजगृह के एक सपन्न सेठ के घर जन्मा रमणीयविहारी नामक श्रेष्ठि-पुत्र विलास-वैभव की विपुलता मे पला। युवा अवस्था को प्राप्त होने पर यौवनमद मे मूच्छित होकर काम-भोगो का स्वेच्छाचारी जीवन जीने लगा। एक बार उसने देखा कि उसी की भाति काम-व्यभिचार मे अनुरक्त होने वाले एक राजपुरुष को काम-सबधी मिथ्याचरण के कारण राज्य की ओर से घोर दड दिया गया। इसे देखकर वह भयभीत हो उठा। आकुल-व्याकुल हो उठा। मानसिक शाति के लिए भगवान के आश्रम मे गया और भगवान की धर्मवाणी सुनकर उत्साहित हो, वही प्रव्रजित हो गया। भगवान से विपश्यना साधना की अनुकूल विधि सीखकर एक निर्जन स्थान मे जाकर अभ्यास करने लगा। परतु बहुत प्रयास करने पर भी सफलता नही मिली। पूर्व स्वभाव के कारण बार-बार मन कामवासनाओ के चितन मे ही विचरण करने लगता और जब होश आता तो पश्चाताप के पक मे डूबने लगता, पर साक्षीभाव से विपश्यना नही कर पाता। यो खिन्न मन सडक के किनारे, एक पेड के नीचे निराश बैठा हुआ था। उस समय उसने देखा कि किसी गाडी मे जुता हुआ एक बैल ऊबड-खाबड रास्ते के कारण ठोकर खाकर गिर पड़ा। गाडीवाले ने प्यार से उसे उठाया, गाडी के जुए से मुक्त करके कुछ देर विश्राम करने दिया, फिर कुछ चारा-पानी देकर उसकी पीठ थपथपाई और पुनः गाड़ी मे जोत दिया। वह अनुभवी बैल दुगुने उत्साह से फिर गाडी खीचने लगा और रास्ता ऊबड-खाबड़ होते हुए भी उसे पार कर आगे बढ गया।

इस घटना को देखकर साधक रमणीयविहारी के मन मे अपूर्व प्रेरणा जागी। वह बड़े उत्साह के साथ साधना मे लग गया और अल्पकाल मे ही इसी जीवन मे मुक्त अवस्था को प्राप्त हो गया।

× × ×

इसी प्रकार की एक और घटना।

नदक और भरत अपने पूर्व पुण्यो के फलस्वरूप भगवान के जीवन-काल मे चपा नगरी के एक धनी गृहस्थ के घर जन्मे। बड़े होने पर उन्होने एक दिन सुना कि उसी नगरी का 'सोण' नामक अत्यत सुकोमल, सुकुमार और ऐशोआराम मे पला हुआ महाधनी पुत्र अपना घर-बार छोडकर भगवान के पास प्रव्रजित हो साधना करते हुए अर्हंत अवस्था को प्राप्त हो गया है। यह सुनकर दोनो भाइयो के मन मे अत्यत धर्म-सवेग जागा और दोनो प्रव्रजित होकर विपश्यना साधना के अभ्यास मे जुट गए। बडा भाई भरत अपने सत्प्रयत्नो द्वारा अचिर काल मे ही सारे आश्रवो से छुटकारा पाकर अर्हंत अवस्था को प्राप्त हो गया। परन्तु छोटे भाई नदक की राह मे बहुत बाधाए आयी। यद्यपि उसने परिश्रम तो बहुत किया, परतु अनेक जन्मो के सग्रहित विपुल कषायो के कारण एक-पर-एक बाधा आती ही रही। अन्तराय आता ही रहा। शरीर की सवेदनाओ के आधार पर अनित्य बोध की प्रज्ञा नही जाग सकती। अतः नदक बहुत निराश हो उठा। साधना करने का सारा उत्साह खो बैठा। भरत ने अपने भाई की यह दशा देखी तो उसके मन में पुनः उत्साह जगाने के लिए कुछ देर धर्म-चर्चा करता रहा। साधना की विधि समझाते हुए वह अपने भाई के साथ ध्यान केन्द्र के बाहर टहलने निकल गया। कुछ दूर जाने पर रास्ते के किनारे पर बैठकर भाई को उत्साहित करने के लिए धर्म-प्रबोधिनी बातें करता रहा।

इतने मे देखा कि बैलगाडियो का एक कारवा चला आ रहा है। और देखा कि उनमे से एक गाड़ी का चक्का गहरे दल-दल मे धस गया है। बैल स्वय भी घुटने-घुटने कीचड़ मे धसा हुआ गाड़ी को आगे चलाने का प्रयत्न करता रहा, पर असफल रहा। अन्ततः वही गिर पडा। गाड़ी-वान ने तुरत बैल को गाड़ी के जुए से खोलकर बाहर निकाला और दाना-पानी देकर स्वस्थ किया। कुछ देर बाद उसकी पीठ थपथपाकर फिर गाड़ी मे जोत दिया। बैल उत्तम जाति का था। प्रशिक्षित था। उसने अपना सारा बल लगाया और गाड़ी को दलदल के बाहर निकालकर आगे बढ चला।

यह देखकर भरत ने भाई नदक को कहा, "देखा! इस बैल के

पुरुषार्थ को।" नदक ने उत्तर दिया, "हा, देखा। जिस प्रकार यह पुरुषार्थी बैल अपने पूरे पराक्रम से इस गहरे दलदल से निकल सका, वैसे ही मैं भी अपना पूरा पराक्रम लगाकर इस भव ससार के दलदल से बाहर निकलूंगा ही।"

और इस प्रसग से असीम प्रेरणा पाकर साधक नदक विपश्यना मे जुट गया। अब तक विफलता-ही-विफलता का सामना करने वाला निराश नदक अब परम उत्साह के साथ काम करता हुआ सफलतालाभी हुआ। विपश्यना के तेज से सारे बधनो को जलाकर पूर्णतया मुक्त हुआ, अर्हंत अवस्था को प्राप्त हुआ। साधना सफल हुई। साधक धन्य हुआ।

विजय के हर्षोल्लास मे नदक ने इस प्रसग को याद करके ही यह वृषभनाद किया, "सम्यक् सम्बुद्ध का सम्यक् दर्शन सपन्न श्रावक उस भद्र आजानीय वृषभ के समान ही है जोकि किन्ही कारणो से गिर पडने पर भी और अधिक सवेग बल से उठ खडा होता है और आगे बढ जाता है।"

३/

नन्ही-नन्ही सामान्य-साधारण घटनाए सबके जीवन मे घटती ही रहती हैं, परन्तु कभी-कभी बहुत साधारण-सी लगने वाली घटना किसी पुण्यशाली व्यक्ति के लिए अपूर्व प्रेरणा-प्रदायिनी बन जाती है और उसके अन्तर मे एक ऐसा अदम्य उत्साह जगा देती है कि वह सारी सुख-सुविधाओ को लात मारकर मुक्ति के मार्ग पर प्रबल पराक्रम करता हुआ बढ चलता है।

किसी बूढे को, बीमार को, मुर्दे को और सन्यासी को देख लेना कोई असाधारण बात नही है। लोग देखते ही रहते हैं। हो सकता है पिता शुद्धोधन के पुत्र सिद्धार्थ को निवृत्ति मार्ग की ओर जाने से रोकने के लिए विलास-वैभव और आमोद-प्रमोद मे लगाए रखा हो। यह भी

सभव है कि किसी मुर्दे को देखने का उसे पहले कभी कोई अवसर न मिला हो। पर वृद्ध तो देखा ही होगा। भले बडी उम्र वाले नौकर-नौकरानियो को राजकुमार से दूर रखा जाता हो, परन्तु उसकी अपनी छोटी मा प्रजावती गौतमी और स्वय पिता शुद्धोधन लगभग ६५-७० वर्ष के हो चुके थे जबकि राजकुमार २५-३० वर्ष का हुआ। उनके पके हुए बाल, चेहरो पर पडी हुई झुरिया उसने अवश्य देखी होगी। इसी प्रकार उनमे से किसी को कभी रोग से पीडाग्रस्त हुआ भी देखा ही होगा। और धर्मभीरु राजघराना था। आए दिन साधु-सतो को भोजन-दान, उनका सम्मान-सत्कार चलता ही रहा होगा। उनकी वदना करने और उनके मगल-आशीर्वाद लेने के लिए राजकुमार को भी उनके सम्मुख लाया ही जाता होगा। अत. यह अनुमान करना गलत नही कि ऐसे दृश्य राजकुमार ने पहले भी अवश्य देखे होगे। परन्तु उस दिन इन्ही निमित्तो को देखते हुए मनो स्थिति इस प्रकार रही होगी जिसकी वजह से गृह-त्याग कर सत्य के खोज की ऐसी प्रबल प्रेरणा जाग उठी जो किसी के रोके न रुक सकी।

उस दिन देखे गए जरा, व्याधि और मृत्यु के प्रतीको मे सारे ससार का दुख उभर उठा होगा और उम गृहत्यागी सन्यासी के शात चेहरे के प्रतीक मे दुख-विमुक्ति का अपूर्व आश्वासन मन मे जाग उठा होगा। इसी कारण उस घटना ने उस समय चिंतनशील राजकुमार के मानस पर विचारो का बहुत बडा तूफान खड़ा कर दिया होगा।

जहा ससार मे जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु की सर्वत्र कराह है, वहा उनके परे अजर, अमर निर्वाण की सच्चाई भी होगी ही। मुझे उसकी खोज करनी चाहिए।

जैसे संसार मे एक ओर इन्द्रिय दुख है, तो दूसरी ओर इद्रिय-सुख का भी अस्तित्व है। ऐसे ही जहा भव-चक्र है, वहा भव-नि.सरण भी अवश्य होगा ही।

जैसे ससार मे उष्णता है तो उसके मुकाबले शीतलता भी है। वैसे ही जहा त्रिविध ताप है, वहा सर्व तापनाशक निर्वाण की परम शाति भी अवश्य होगी ही।

जैसे यहा पाप है और उसके विपरीत पुण्य भी है। वैसे ही जहा जन्म है, वहा अजन्म अवस्था भी होगी ही। जहा जरा है, वहा अजर अवस्था भी होगी ही। जहा मृत्यु है, वहां अमृत भी अवश्य होगा ही। मुझे इसकी पर्यवेषणा करनी चाहिए।

जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु के इस दुखद भव-चक्र का कोई तो मूलभूत कारण होगा ही और यदि है तो उसके निवारण का भी कोई उपाय अवश्य होगा। यदि ऐसा कोई उपाय है, तो उसके द्वारा भव-चक्र से सर्वथा विमुक्त हो नितात दुख-निरोध की अवस्था का परम सत्य उपलब्ध किया जा सकता है। किया जाना ही चाहिए। केवल मेरे ही दुख-निरोध के लिए नही। ससार के इतने प्राणी दुखो से तड़प रहे हैं। इनकी दुख-विमुक्ति के लिए भी परम सत्य की खोज करनी आवश्यक है।

गंदगी से भरे व्यक्ति को अपने मैल धोने के लिए सरोवर तो है, पर वह सरोवर की खोज ही न करे तो दोष किसका ? सरोवर का नही।

प्राणघातक दुश्मनो से घिरे हुए व्यक्ति के लिए भाग निकलने का रास्ता तो है, परन्तु वह उसे ढूढे ही नही तो दोष किसका ? रास्ते का नही।

आग की लपटो मे घिरे घर मे से भाग निकलने की राह तो है, पर उसे जानने का प्रयत्न ही न करे तो दोष किसका ? राह का नही।

रोग दूर करने के लिए चिकित्सा तो है पर रोगी उसे उपलब्ध ही न करे तो दोष किसका ? चिकित्सा का नही।

जन्म-जन्मातरो के भव-चक्रो से प्रपीडित व्यक्ति के लिए क्लेश-निवारण का मार्ग तो है परन्तु वह उस मार्ग की गवेषणा ही न करे तो दोष किसका ? मार्ग का नही।

और यह गवेषणा घर पर बैठे हो नही सकती। घर-गृहस्थी मे धर्म के नाम पर अधिकतर कर्मकाड ही चलते हैं। उनमे परम सत्य को खोजना निस्सार मे सार को खोजने जैसा ही है। पिता ने तत्कालीन दर्शन-शास्त्रो के आचार्यों को घर बुला-बुलाकर सभी दार्शनिक मान्यताओ पर ऊहापोह करने के साधन जुटा दिए थे। परन्तु इस कोरे चितन-मनन मात्र से परम सत्य की उपलब्धि हो जाए, यह असभव है। पूर्वकाल के मुक्त हुए महापुरुषो ने सत्य का साक्षात्कार स्वय किया

और अपने भीतर ही किया। मुझे भी यही करना होगा। परम सत्य की खोज अपने भीतर ही करनी होगी। इसके लिए अतर मे पैठ सकने की कोई वैज्ञानिक विधि ढूढनी होगी। और फिर इसके निरतर निर्बाध अभ्यास के लिए अनुकूल वातावरण चाहिए जोकि इस बाह्य प्रेक्षी राजसी वातावरण मे पा सकना असभव है।

परम सत्य के खोज की इस तीव्र अभिलाषा को सामान्य से लगने वाले इन चार प्रसगो ने कितना बल दिया। अनिंद्य सुन्दरी, परम रूप-लावण्यमयी, सेवाभाविनी पत्नी यशोधरा का और सुन्दर सुकोमल नवजात शिशु राहुल का सारा आकर्षण त्याग कर सत्य-शोधक राजकुमार सिद्धार्थ गृहत्यागी बना। राज्य के समस्त वैभव-विलास, आमोद-प्रमोद के प्रसाधनो को इसी निसगभाव से त्याग कर चल दिया—जैसे कोई शौचालय मे जाकर मल-मूत्र त्याग कर चल देता है और उस ओर मुडकर देखता भी नही।

परम सत्य की खोज मे निकला हुआ मुमुक्षु राजकुमार अनेक जगह भटका, अनेक प्रकार के प्रयोग करके देखे। अपने भीतर समाधि की तलस्पर्शी गहराइयो को मापने के लिए उन दिनो के प्रसिद्ध ध्यान आचार्य आलारकलाम और उद्दकरामपुत्त से क्रमशः सातवा और आठवा ध्यान सीखा। पर इनसे भी इद्रियातीत परम सत्य का साक्षात्कार न हो सका। यह उन दिनो के प्रचलित ध्यान की बहुत ऊची अवस्थाए थी। पहले से चौथा ध्यान अपने भीतर और पाचवें से आठवा ध्यान बाहर अनत तक फैलने का ध्यान होता है। इन ध्यानो के कई आलवन होते हैं। मिट्टी, जल, अग्नि, वायु के अतिरिक्त विभिन्न रगो व रोशनियो को भी आलवन बनाया जाता है। लवे अभ्यास द्वारा ऐसे आलवन को सकुचित करते-करते बन्द आखो के सामने एक लेशमात्र बिंदु तक सिकोडकर स्थित कर लिया जाता है और फिर प्रबल मनोबल से उस पर पूरा अधिकार जमाने के अनेक प्रयोग किए जाते हैं। तदनतर साधक उसे यथेच्छ विस्तृत करता है, फैलाता है। अनंत तक फैलाते जाता है। लेशमात्र रग के बिंदु को और आगे चलकर शुभ्र प्रकाश के बिंदु को अनत तक फैलाकर साधक अपने चित्त को उसमे समाहित कर लेता है।

शुभ्र लेश्या से अनत आयतनो की पाचवी से आठवी ध्यान समापत्तियो द्वारा साधक का मानस वहुत अशो मे निर्मल हो जाता है। परन्तु अन्तर्मन की गहराइयो मे अनेक जन्मो से सचित धर्म-सस्कारो के कषाय-क्लेश की कुछ जडें बची रह जाती हैं, उनको भी दूर किए विना पूर्ण मुक्ति कहा ? आठो ध्यानलाभी साधक भवाग्र स्थित अरूप ब्रह्मलोक का अधिकारी अवश्य हो जाता है। पर भवातीत निर्वाण कहा ? लोकातीत परम विमुक्ति की अवस्था कहा ? ऐसा साधक अतीद्रिय अनुभूतिया प्राप्त करके अनेक प्रकार की अलौकिक लगने वाली रिद्धि-सिद्धियो का अधिकारी अवश्य वन जाता है। पर इद्रियातीत नित्य, शास्वत, ध्रुव, परम शाति की अवस्था कहा ? जवतक लेशमात्र भी कर्म-क्लेश वाकी हैं, तवतक भवचक्र, लोकचक्र, दुखचक्र, चलता ही रहता है। जो विमुक्ति के परम सत्य का अन्वेषी है, वह भला यही कैसे रुकता ? उन ध्यान आचार्यों के पास लेशमात्र वचे हुए अनुशय सुषुप्त क्लेशो को दूर करने का कोई साधन नही था। अत राजकुमार तपस्वी अन्य साधनो की खोज मे चल पडा।

उन दिनो की एक वहुत प्रवल मान्यता यह भी थी कि भिन्न-भिन्न प्रकार से शरीर को यत्रणा देने से, कष्ट देने से कर्म के मैल उतर जाते है। क्यो न इसे भी आजमाकर देखा जाय ? असीम वैभव-विलास मे पला हुआ सुकुमार-सुकोमल राजयोगी इस दुष्कर चर्या मे भी दृढता-पूर्वक लग गया और इसकी भी चरम सीमा तक का प्रयोग करके देखा गया। उन दिनो के प्रचलित सभी देह दडो की तपश्चर्या करके देखी। अनेक प्रकार से काया पर आतापन-सतापन का प्रयोग किया।

अनेक दिनो काटो की शैय्या पर सोकर देखा। ठिठुरती ठड मे भीगे वस्त्रो पर सोने का उपक्रम किया। शीतकाल मे रात-रात भर खुले मैदानो मे रहता और दिन मे सीलन भरे घोर वन-खण्डो मे। ग्रीष्म की तपती दोपहरी मे विना छाया वाले खुले मैदानो मे रहता और रात को सघन वन-खण्डो मे। नाना प्रकार से शरीर को कष्ट ही देता। नाना प्रकार के अभक्ष्य भोजन करके देखे और जव उपवास करने पर तुला तो ऐसे उपवास किए कि शरीर को सुखा कर काटा बना लिया। कही

मास-मज्जा का नामोनिशान नही बचा। केवल हड्डियो का पिजर और उस पर सिकुडी हुई चाम। पैंतीस वर्ष की अवस्था मे अस्सी वर्ष के बूढे से भी बदतर हालत हो गई। स्वर्णिम आभा वाले सुन्दर शरीर का रग काला पड गया। जगह-जगह मैल के चिट्टे जम गये। कूल्हे ऐसे हो गए जैसे ऊट के पाव। रीढ की हड्डी के उन्नत-अवनत काटे ऐसे हो गए; जैसे मूज की ऐठनभरी रस्सी। पसलिया ऐसी हो गयी; जैसे जीर्ण-शीर्ण मकान की ढीली होकर अलग-थलग हुई कडिया-लकडिया। आख के गड्ढो मे पुतलिया ऐसी; जैसे गहरे कुए मे किसी तारे का प्रतिबिम्ब दीखता हो। सिर पर की चमडी ऐसी हो गई; जैसे कच्ची तोडी हुई लौकी धूप मे सूखकर सिकुड गयी हो। पेट की चमड़ी पीठ की हड्डी से जा जुडी। उसे पकडना चाहता तो पीठ की हड्डी के काटे हाथ मे आ जाते। शरीर इतना कृश और दुर्बल हो गया कि जिस अग को हाथ का सहारा देकर उठाना चाहता, वही के सड़े हुए जड वाले लोम उखड-उखड़कर गिर पडते। मल-मूत्र त्यागने के लिए उठकर चलना चाहता तो एक कदम भी नही चल पाता। वही भहराकर गिर पडता। काय-क्लेश की पराकाष्ठा।

लगभग छह वर्ष तक देह-दडन की ऐसी कठोर दुष्कर चर्या करके भी देखा कि आठो ध्यान के बाद अतर्मन की गहराइयो मे जो लेशमात्र अनुशय-क्लेश बचे थे, वह वैसे-के-वैसे हैं। जरा भी दूर नही हुए।

तो बात समझ मे आयी कि जिस प्रकार काम-भोग, विलास-वैभव का जीवन जीते हुए कोई व्यक्ति एक अति का जीवन जीता है और मुक्ति से दूर रहता है, वैसे ही काय उत्पीडन की तपश्चर्या मे लगा हुआ व्यक्ति दूसरी अति का जीवन जीता है और वह भी इसी प्रकार मुक्ति से दूर रहता है। सुधारना मन को है। उसे विकारो से विमुक्त करना है। इस विमुक्ति की साधना के लिए मध्यम मार्ग की खोज करनी होगी।

युक्त आहार ग्रहण करके शरीर को आर्य साधना के योग्य बनाकर स्वय ही अपने भीतर मध्यम मार्ग की साधना की खोज मे लग गया। अनेक आतरिक बाधाओ का सामना करता रहा। अततः अपने अनेक

जन्मो मे सचित सवर्धित पुण्य-पारमिताओ का अपरिमित बल जाग उठा और विपश्यना का मुक्तिदायी मार्ग उजागर हुआ।

काम-भोगो का बधन स्पष्ट हुआ। देह-दडन की निस्सारता स्पष्ट हुई। कर्मकाडो की निष्प्रयोजनता स्पष्ट हुई। विभिन्न दार्शनिक मान्यताओ के जजाल टूटे। स्वानुभूति के आधार पर जागी हुई भावनामयी प्रज्ञा के बल पर अन्धमान्यताजन्य दर्शन सम्यक्-दर्शन बना। सम्यक्-दर्शन के आधार पर बौद्धिक चितन-मननवाला भ्रामक ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूतियो वाला सम्यक् ज्ञान बना। काल्पनिक विमुक्ति सम्यक्-विमुक्ति बनी। परम कल्याणी सम्यक् सम्बोधि की उपलब्धि हुई। सारे अनुशय-क्लेश छिन्न-भिन्न हुए। चित्त समस्त विकारो से नितात विमुक्त हुआ। चेतोविमुक्ति प्रज्ञाविमुक्ति मे सहायक हुई। नित्य, शास्वत, ध्रुव, प्रणीत, प्रशात शिव से एकाकार हुआ। परम सत्य का साक्षात्कार हुआ।

सिद्धार्थ राजकुमार सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर सम्यक् सम्बुद्ध बना। सर्वथा जाग्रत, प्रबुद्ध, सर्वज्ञ।

सामान्य साधारण से लगनेवाले ये चार प्रतीक किस प्रकार असीम प्रेरणा के प्रसग बने। साधक के मन मे सत्यान्वेषण का जो झझावात जागा, वह अनत शाति की परम अवस्था तक पहुचकर ही रुका। साधक धन्य हुआ। ऐसे साधक को पाकर स्वयं साधना धन्य हुई। ऐसा साधक, जोकि केवल अपनी ही स्वस्ति-मुक्ति का कारण नही बना; बल्कि लाखो-करोडो की स्वस्ति-मुक्ति का प्रेरणा स्रोत बन गया। मझधार मे डूबते हुओ के लिए प्रकाशमान दीप-स्तभ बन गया।

हमारे भीतर भी ऐसी मगलमयी प्रेरणा जागे जोकि असीम शुभ-फलदायी हो!

४/

भगवान बुद्ध के जीवन काल की एक घटना।

कोशल देश की राजनगरी श्रावस्ती। नगर का महाधनी श्रेष्ठी-परिवार। छोटे-बडे अनेक कमरो वाली वैभव-सपन्न सात मजिली विशाल अट्टालिका। इसमे केवल चार सदस्यों का यह छोटा-सा श्रेष्ठी-परिवार रहे—सेठ, सेठानी, एक छोटा पुत्र और एक पुत्री। पुत्री किशोर अवस्था को पार कर मदमाते यौवन मे पाव रख रही। घर मे ऐशो-आराम के सारे साधन। बाहर भी "सर्व अस्ति" श्रावस्ती, आमोद-प्रमोद और खेल-तमाशो के आकर्षक मनोरजनो से भरी हुई महामाया नगरी। पिता को धन कमाने का नशा, रात-दिन इसी मे मशगूल रहे। माता को अन्यान्य सामाजिक आयोजनो मे उलझे रहने का शौक। बच्चो की जरा भी देख-भाल नही, सार-सभाल नही। छोटे पुत्र के लिए एक अलग नौकर रखा हुआ। युवा पुत्री की सेवा पर एक दूसरा युवा नौकर, जिसके बुरे ससर्ग ने उस अल्हड नव-यौवना की उभरती उमर मे वासना का ज्वार जगा दिया। पाव लडखडाए और एक बार फिसली तो फिसलती ही चली गयी। उस विशाल हवेली मे एकात अनाचार की भरपूर सुविधाए। दोनो पाप के कीचड मे दिनो-दिन धसते गए।

लडकी बीस वर्ष की हुई तो मा-बाप को उसके हाथ पीले करने की याद आई। एक सुखी-सपन्न प्रतिष्ठित परिवार के योग्य पुत्र से सगाई कर दी गई। विवाह का दिन भी निश्चित हो गया। आज घर मे बारात आने वाली है। यहा दोनो अनाचारियो को चिता होने लगी। पराए घर जाने के बाद तो एक-दूसरे को देख भी न सकेंगे। शरीर-सबधो की बात तो दूर।

वासना के पक-पुतले को मिथ्या प्रेम का सुन्दर चोगा पहनाकर और उस पर भ्रामक त्याग के भडकीले आभूषण सजाकर दोनो ने अपने दुष्कर्मों का न्यायीकरण किया और भाग निकलने का फैसला किया। दोनो ने सकल्प किया—भले गरीबी मे रहे, पर साथ रहेगे। घर मे बारात आने के पहले ही दोनो की पलायन-योजना सफल हुई। थोड़ा-

वहुत जो भी धन-आभूषण वटोर सके, वटोरकर निकल भागे और नगर से दूर एक छोटे-से गाव मे जा वसे।

साथ लाया हुआ धन वहुत दिन काम न आ सका। पाप-कर्मो का फल उदय होने लगा। अत्यत विपन्न अवस्था मे दिन वीतने लगे। दो वर्ष वाद युवती को गर्भ रह गया। जैसे-जैसे गर्भ वढने लगा, वैसे-वैसे चिंता भी। ऐसी विपन्न अवस्था मे कैसे प्रसव होगा ? कैसे वच्चे की देख-भाल होगी ? मा-वाप की याद सताने लगी। मेरे दुष्कर्म की वजह से उनकी प्रतिष्ठा धूल मे मिली। वे इस कारण वहुत नाराज होगे। पर मैं जाकर क्षमा मागूगी तो वे क्षमा कर ही देगे। आखिर मा-वाप हैं न ! शीघ्र पीहर जाने के लिए मन उतावला हो उठा। पति घवराया। उसे डर था कि श्रावस्ती जाने पर उसे वहुत वडा राज-दड भोगना पडेगा। अत वह चलने के लिए आज-कल, आज-कल के वहाने वनाता हुआ टालने लगा। पति के मिथ्या आश्वासनो से निराश होकर गर्भ की वढी हुई अवस्था मे उस दुखियारी युवती ने अकेले ही जाने का फैसला किया। पति जव वाहर काम पर गया हुआ था, तो पड़ोसन को सूचना देकर वह श्रावस्ती की ओर निकल पडी। रास्ते मे वियावान वन था। पर थकी-मादी निर्भय हो अकेली चली जा रही थी। घर लौटने पर पति को जैसे ही सूचना मिली, वह भी पीछे-पीछे दौडा आया। परतु पत्नी वापस चलने के लिए तैयार नही हुई। लाचार पति भी उसके साथ हो लिया। राह चलते गर्भोत्थान हुआ और वही जगल मे एक पुत्र का जन्म हुआ। अव पति के वहुत आग्रह करने पर वह उसके साथ अपने घर लौट आयी।

इसी प्रकार दीन अवस्था मे दो वर्ष और वीते। उसे फिर गर्भ रहा। फिर मा-वाप याद आने लगे। फिर पति उसी प्रकार वहाने वनाने लगा। टाल-मटोल करने लगा। फिर उसी प्रकार उसने अकेली जाने का फैसला किया और वच्चे को गोद मे लेकर गर्भ की वढी हुई अवस्था मे श्रावस्ती की ओर चल पडी। पति पीछे-पीछे दौडा हुआ आया और उसी प्रकार फिर निर्जन वन मे गर्भोत्थान हुआ। प्रसव का समय आया। दुर्भाग्य से उसी समय आकाश मे विना मौसम की तेज आधी उठी और उसके वाद घनघोर वर्षा होने लगी। कही सिर छुपाने की जगह नही। प्रसव-पीड़ा

वढती जा रही थी। उसे आश्रय की जरूरत थी। पति ने सोचा वैभव मे पली इस श्रेष्ठी-पुत्री की यह दुरावस्था मेरे ही कारण हुई। मुझे इसे आधी-पानी से बचाने के लिए कुछ तो करना ही चाहिए। क्यो न कही से कुछ लकडिया काट लाऊ और सूखे पत्ते बटोर कर इसके लिए सिर छुपाने लायक एक पर्णकुटी ही वना दू। उस काल अधेरी रात मे वह इस उद्देश्य से निकल पडा और रातभर लौटा नही। गर्भवती युवती पाना और कीचड भरी राह पर पडी कराहती रही। उसका अरण्य-रोदन सुननेवाला कोई नही। कौन सहायता करे ? ऐसी विकट स्थिति मे फिर प्रसव हुआ। एक नन्हे-से बच्चे को जन्म दिया उसने। सुबह पौ फटने तक भी पति नही, लौटा तो घबराई। दोनो बच्चो को छाती से चिपकाये हुए, पति को ढूढने निकली। कुछ ही दूर गयी कि देखा उसके पति का शरीर अकडा और नीला हुआ पडा है। उसके प्राण-पखेरू उड चुके थे। उसे किसी विष-धर साप ने डस लिया था। क्या करती ? रोती, बिलखती, दोनो बच्चो को छाती से चिपकाए अकेली श्रावस्ती की ओर चल पडी।

प्रलयकारी वर्षा रुकने का नाम ही नही ले रही थी। रास्ते के छोटे-छोटे नाले भी नदियो जैसे वन गए थे। छोटी-सी अचिरवती नदिया इस वाढ के मारे वहुत विशाल-काय हो गई थी। दो-दो वच्चो को लेकर एक साथ इस नदी को कैसे पार करे ? अत एक युक्ति लगाई। वड़े वच्चे को समझा-बुझाकर नदी के इसी तट पर छोडा और नवजात शिशु को लेकर नदी पार कर गई। परले पार पहुचकर नन्हे वच्चे को कपडे मे लपेटकर एक झाडी के नीचे लिटाया और अब वडे को ले आने के लिए फिर नदी पार करने लगी। पर आखें नवजात शिशु पर ही लगी थी। उसे कुछ हो न जाय। बीच मझधार मे पहुची तो देखती है कि एक वहुत बडा गिद्ध उस शिशु को मास का लोथडा समझकर उस पर झपट रहा है। बच्चे को बचाने के लिए और गिद्ध को उडाने के लिए वह जोर-जोर से शू-शू की आवाज करने लगी और अपने दोनो हाथ हिलाने लगी। गिद्ध पर इसका कोई असर नही हुआ। वह नवजात शिशु को अपने पजो मे दबोचकर उड़ गया। परतु इसका बुरा असर इस पार बैठे वच्चे पर हुआ। उसने मा की आवाज सुनी और उसे जोरो से हाथ हिलाते देखा तो समझा कि

मा मुझे ही बुला रही है और वह शीघ्रतापूर्वक नदी मे कूद पडा। दुखियारी असहाय मा। देखते-देखते बच्चा तेज बहाव मे बह गया।

पति को साप ने डस लिया, एक पुत्र को गिद्ध दबोच ले गया, दूसरे को नदी बहा ले गयी। अभागन नारी रोती, बिलखती श्रावस्ती की ओर चल पड़ी। पर अभी उसे और दुर्दिन देखने थे। दुष्कर्मो का और फल पकना बाकी था। श्रावस्ती पहुचने के पहले श्मशान घाट से गुजरी तो देखा वहा चिता पर मुर्दे जलाए जा रहे हैं। श्रावस्ती से आते हुए एक राहगीर से प्रश्न किया तो पता चला कि रात के तेज आधी-तूफान और मेह के कारण नगर के सेठ का सात मजिला महल गिर पडा, जिसमे दबकर सेठ, सेठानी और उनका एकलौता पुत्र मर गया। अरे ! वही तो उसका बाप था, वही उसकी मा थी और वही उसका एकमात्र भाई था। चिता पर उन्ही की लाशें जलाई जा रही थी। इस दुस्सवाद से उस पर दुखो का पहाड टूट पडा। अब ससार मे उसका कोई नही रह गया। वह अपना होश न सभाल सकी। वही पछाड खाकर गिर पड़ी।

कुछ देर बाद उठी तो खोया हुआ होश खोया ही रहा, वापस नही आया। पूर्णतया विक्षिप्त हो गई। एक-एक करके शरीर पर के सारे कपड़े गिरा दिए। कुछ भी होश नही। पूर्ण नग्न श्रावस्ती की सडको और गलियो पर सिर धुनती, छाती पीटती, बिलखती फिरने लगी।

"हाय ! मेरे पति को साप डस गया। नन्हे को गिद्ध झपट ले गया। बडे को नदी बहा ले गयी। मा, बापू, भाई दबकर मर गए और एक साथ चिता पर जलाये गए।" लोग उसका करुण विलाप सुनते, दुखी होते। पर क्या करते ? उसकी पागलो की-सी हरकते देखकर अपने घर के किवाड बद कर लेते। कोई उसे पास नही आने देता। "पगली-पगली" कहकर बच्चे उसके पीछे दौडते, उस पर ढेले फेंकते।

ऐसी दुरावस्था मे अपने पूर्व पुण्य के कारण वह एक दिन जेतवन विहार के पास से गुजरी। वहा भगवान एक बडी सभा को धर्म समझा रहे थे। लोगो ने उसे आते देखा, तो दूर भगाना चाहा। कही यह पगली औरत धर्म सभा की शाति मे विघ्न न पैदा कर दे। परतु भगवान की नजर उस दुखियारी पर पड़ी तो लोगो को रोका। दुखियारी भगवान के

समीप आयी। भगवान ने करुणा भरे शब्दो में कहा, "मेरी दुखियारी बेटी ! होश सभाल !" वाणी मे अमृत भरा था। सुनते ही उस दुखियारी को जरा-सा होश आया। उसका ध्यान अपने सर्वथा नग्न शरीर पर गया तो लाज के मारे सिकुड गयी। वही उकुड़ू बैठ गयी। समीप खड़े किसी भाई ने उस पर अपनी चादर डाली। उसने तुरन्त चादर ओढ ली। विक्षिप्त अवस्था मे सभी वस्त्रो को त्याग देने के कारण इस चादर ओढी हुई दुखियारी का नाम "पटाचारा" पड गया। लोग उसका पूर्व नाम ही भूल गए।

पटाचारा भगवान के और समीप आयी और अपने दोनो पाव, दोनो हाथ, और सिर धरती को छुआकर पचाग प्रणाम करती हुई बोली, "भन्ते भगवान ! मुझे शरण दीजिए, मैं बहुत दुखियारी हू।"

"बेटी ! तू सही शरण-स्थान पर आ गयी है। तुझे यहा अवश्य शरण मिलेगी।" भगवान ने आश्वासन भरे शब्दो मे कहा।

"भन्ते भगवान ! मेरे पति को काले नाग ने डस लिया। एक पुत्र को गिद्ध दबोच ले गया। दूसरे को नदी वहा ले गयी। माता-पिता, भाई दबकर मर गए। उन्हे एकसाथ चिता पर जलाया गया। अब ससार मे मेरा कोई नही। मुझे कौन शरण देगा ?"

अपने दुखो को यादकर पटाचारा फिर फूट-फूटकर रोने लगी।

"बेटी होश कर ! माता-पिता, भाई-बधु, पति-पुत्र शरण नही दे सकते। सही शरण तो अपना धारण किया हुआ धर्म ही देगा। तू कौन-से प्रिय स्वजनो की मृत्यु पर दुख के आसू बहा रही है ? इस अनादि भव-ससार मे तूने अनगिनत बार जन्म लिया है। सभी जन्मो मे तेरे प्रिय स्वजन मरे हैं। उनके मरने पर तूने जितने आसू बहाए हैं, यदि एक जगह एकत्र कर दिये जाय तो इन चारो महासमुद्रो का जल भी उसके मुकाबले कम होगा। और कितने जन्मो तक इसी प्रकार प्रिय-वियोग मे रोती रहोगी ? प्रमाद छोड ! होश मे आ ! समझदार को चाहिए कि इस असीम दुखमय भवसागर की सच्चाई को समझकर शीघ्र-से-शीघ्र मुक्ति का मार्ग खोजे। सदा के लिए दुख-विमुक्त हो जाय।"

भगवान की वाणी ने अमृत वरसाया। योग्य पात्र ने उसे ग्रहण किया।

भगवान की वाणी सुनते-सुनते उस दुखियारी का चित्त एकाग्र हुआ। थोड़ी देर के लिए स्वमुखी हुआ, अन्तर्मुखी हुआ। शरीर के अणु-अणु मे उदय-व्यय की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। अनेक जन्मो की असीम पुण्य-पारमी के कारण इस अनित्य बोध की धर्म-गगा मे सारे पाप-ताप घुलने लगे। वही बैठे-बैठे पटाचारा ने निर्वाण अवस्था का साक्षात्कार किया। श्रोतापन्न हुई।

कृतज्ञता-विभोर हो भगवान को नमस्कार किया और उनसे प्रव्रज्या की याचना की। भगवान ने उसे भिक्षुणियो के पास भेजकर प्रव्रजित करवाया और पटाचारा मुक्ति के मार्ग पर दृढतापूर्वक आरूढ हुई।

जो भव-सस्कार बचे थे, उनका सामना करना था। उन्हे भी अत-र्तप करते हुए विपश्यना की अग्नि मे जलाना था। काम करने मे कठिनाइया आ रही थी। कभी-कभी अकाल-मृत्यु को प्राप्त हुए स्वजनो, प्रियजनो की फिर याद आ जाती थी। एक दिन सायकाल दृढ चित्त से साधना की तैयारी मे लगी। बाल्टी से लोटा भर जल लेकर अपने पाव धोए। सूखी जमीन पर बहता हुआ जल कुछ ही दूर जाकर सूख गया। आगे न बढ पाया। एक लोटा पानी पाव पर और डाला। इस बार जलधारा पहली की अपेक्षा कुछ और दूर जाकर सूख गयी। तीसरी बार पाव पर पानी डाला तो जलधारा कुछ और दूर जाकर सूख गयी।

इस छोटी-सी घटना ने भीतर के ज्ञानततुओ को झकझोर दिया। मोहजन्य अज्ञान का पर्दा दूर हुआ। जैसी जलधारा वैसी ही जीवन-धारा। इस ससार मे किसी-किसी की जीवनधारा कम उम्र मे ही सूख जाती है। किसी-किसी की मझली उम्र मे और किसी-किसी की बढी उम्र मे। पर मरते तो सभी है। कोई नही बचता। इस मरणानुस्मृति के आधार पर साधना करने बैठी। उसी समय भगवान के अमृत भरे बोल कानो मे गूज उठे

> यो च वस्ससत जीवे अपस्स उदयब्बय।
> एकाह जीवित सेय्यो पस्सतो उदयब्बय॥

उदय-व्यय की सच्चाई को विपश्यना द्वारा देखे विना कोई भले सौ वर्ष भी जिए, पर उसके मुकावले उदय-व्यय को देखते हुए एक दिन का जीना भी अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।

धर्मवाणी सुनकर साधिका पटाचारा का रोम-रोम रोमाचित हो उठा। मैंने जीवन के पच्चीस वर्ष अपने भीतर उदय-व्यय का दर्शन किए बिना ही गवा दिए। अब भगवान की असीम अनुकम्पा से इस सत्य का साक्षात्कार हुआ है। इसी सत्य के प्रति साक्षीभाव रखने से मुझे निर्वाण के प्रथम दर्शन हुए थे। इसी उदय-व्यय का निरतर दर्शन करते-करते आगे की अवस्थाए प्राप्त होगी। किसान खेत मे परिश्रम करता है। जोतता है, बोता है तो फल प्राप्त करता है। मैं शुद्ध शील मे प्रतिष्ठित वुद्ध-पुत्री। उनके बताए मार्ग पर अप्रमत्त हो पुरुषार्थ करू तो परम मुक्त अवस्था प्राप्त कर ही लूगी। यो दृढ निश्चय करके वह अपनी कुटिया मे विपश्यना करके बैठी।

समीप जलते हुए दीपक की लौ मद पडने लगी, तो सूई से ठीक करने की कोशिश की। परतु इससे लौ बुझ गयी। जिस प्रकार इस दीपक की लौ बुझी, उसी प्रकार मेरे राग, द्वेप और मोह के सस्कारो की लौ बुझेगी और मनुष्य जीवन सार्थक होगा।

पटाचारा अधिक दृढ-चित्त से विपश्यना मे लग गयी। शरीर और चित्त के प्रपच को उसके अनित्य स्वभाव मे तटस्थ भाव से देखते-देखते अन्तर्मन पर पडी हुई भव-सस्कारो की परतें उतरने लगी और रात बीतने के पहले ही वह श्रोतापन्न से सगदागामी, सगदागामी से अनागामी और अनागामी से अर्हत अवस्था तक जा पहुची। भवचक्र टूटा। नितात विमुक्ति मिली। मनुष्य जीवन सफल हुआ, सार्थक हुआ।

पटाचारा भगवान की प्रमुख शिष्याओ मे से एक हुई। जिन थोड़े-से भिक्षु-भिक्षुणी, गृहस्थ पुरुप-नारियो को भगवान ने अग्र की उपाधि दी, उनमे से पटाचारा भी एक थी। भिक्षुणियो के विनय-नियमो को अच्छी तरह जानने और उनका पालन करनेवाली साध्वियो मे पटाचारा अग्र मानी गयी। उसने अपना सारा शेष जीवन अपनी जैसी दुखियारी नारियो को धर्म के मार्ग पर आरूढ कर दुख-मुक्त कराने मे ही विताया। अपने कल्याण के साथ-साथ अनेको के कल्याण का कारण वनी। पटाचारा विपश्यना को और विपश्यना पटाचारा जैसी साध्वी को पाकर धन्य हुई।

पुत्र पर आसक्त रहती है। पर किसा गोतमी के लिए तो सुख का एकमात्र आधार यह बालक ही था। इसी के कारण उसके दिन फिरे थे। अब क्या होगा। वह दुख के मारे पागल हो उठी।

जब लोगो ने कहा कि बच्चे के शव को श्मशान ले जाकर दफनायगे तो ये बोल उसके हृदय मे भाले की तरह चुभ गए। ये लोग मेरे बच्चे को घर से बाहर निकाल देगे। मैं ऐसा कदापि नही होने दूगी। उसने बच्चे की लाश को कसकर छाती से चिपका लिया। करुण क्रन्दन करने लगी, "नही मेरा लाल अभी मरा नही है। जहर के नशे मे केवल बेहोश हो गया है। गहरी नीद मे सो गया है। कोई इसे होश मे ला दे। कोई इसे जगा दे। यदि सचमुच प्राण निकल भी गए हैं, तो कोई ऐसी औषधि लाए जिससे प्राण वापस आ जायं। यदि तुमसे नही होता तो मैं कही से मागकर लाऊगी, अपने लाल को जगाऊगी।" वह बच्चे को छाती से चिपकाए विक्षिप्त अवस्था मे घर से निकल पडी। घर-घर लोगो से याचना करती। राह मे जो मिले, उसी से पल्ला पखारकर भीख मागती, "मुझे कोई दवा दे दो, जिससे मेरा लाल जाग जाय। इसकी बेहोशी दूर हो जाय। यह मरा नही है।"

लोग उसे समझाते, "माई, यह मर गया है। अब कोई औषधि काम नही आ सकती। टूटी की बूटी नही होती।" यह सुनकर वह और पागल हो उठती। बच्चे की लाश को जोरो से छाती से चिपकाती और किसी दूसरे के सामने दवा की भीख मागती।

उसकी ऐसी दशा पर एक भाई को बहुत दया आयी तो उसने कहा, "माई, कोई सामान्य वैद्य इसके लिए औषधि नही दे सकता। इस समय लोक मे महाभिषक, महावैद्य, बुद्ध उत्पन्न हुए हैं। शहर के बाहर उनका जेतवन विहार है। भगवान इन दिनो वही टिके हैं। उनके पास जा। वे तुझे उचित औषधि अवश्य देंगे।"

उत्साह से भरी किसा गोतमी दौडती हुई जेतवन विहार पहुची। भगवान उस समय साधको को साधना की बारीकियां समझा रहे थे। आकुल-व्याकुल किसा गोतमी बिना रुके भगवान के समीप पहुच गयी

और बच्चे की लाश भगवान के चरणो के पास रखकर फूट-फूटकर रोने लगी

"भन्ते भगवान ! लोग मुझसे मेरा लाल छीन लेना चाहते हैं। यह मरा नही है। भगवान ! यह सो गया है, बेहोश हो गया है। आप इसे जगा दें, आप इसे होश मे ला दें।"

"बेटी ! यह निष्प्राण है।"

किसा को धक्का लगा। वह फफक-फफककर रोने लगी और बोली, "यदि निष्प्राण है तो भी भगवान ! आप तो महाभिषक हैं। किसी ने कहा आपके पास सजीवनी औषधि है। मेरे बच्चे मे नया प्राण फूक दें। इसे औषधि अवश्य दें।"

भगवान ने देखा ऐसी भावावेशभरी विक्षिप्त अवस्था मे वह धर्म की कोई बात समझने लायक नही है। भगवान ने यह भी देखा कि पटाचारा की तरह यह भी अपने पूर्व जीवन मे भगवान काश्यप बुद्ध की सात बहनो मे से एक रही है और उनके पास खूब तपी है। प्रभूत पुण्य-पारमिताए अर्जित की हैं। इस समय अपने किसी दुष्कर्म का फल भोग रही है। परन्तु अब इसकी दुख विमुक्ति का समय आ गया है।

भगवान ने शात गंभीर वाणी मे करुणा की मदाकिनी बहाते हुए कहा, "हा, बेटी ! कहनेवाले ने ठीक ही कहा है। मैं भिषक ही हू, वैद्य ही हूं। तुम्हे उचित औषधि अवश्य दूगा।"

गोतमी—"दीजिए भगवान ! मैं आपका उपकार कभी नही भूलूगी।" किसा के चेहरे पर आशा की किरण चमकी।

भगवान—"नगर मे जाकर चुटकी भर सरसो के दाने माग ला।"

गोतमी—"अभी ले आती हू भगवान।"

—यू कहकर किसा शीघ्रता से उठी और जाने को उद्यत हुई।

भगवान ने कहा, "परन्तु देखना, ऐसे परिवार से लाना जिसमे आज तक कोई न मरा हो।"

"हा-हा भगवान ! ऐसे ही परिवार से लाऊगी।"

बच्चे को छाती से चिपकाए वह नगर की ओर बेतहाशा भागी।

५/

भगवान के जीवनकाल मे।

श्रावस्ती नगरी। अत्यन्त निर्धन तथा समाज मे नीचे माने जाने वाले कुल में जन्मी एक दुखियारी युवती। नाम गोतमी तिस्स (तिष्या)। परन्तु शरीर से अत्यन्त दुबली-पतली कृशकाय होने के कारण घर वाले उसे गोतमी तिस्सा की जगह गोतमी किसा (कृशा) कहने लगे। धीरे-धीरे आसपास के लोगो मे भी वह "किसा गोतमी" के नाम से ही प्रसिद्ध हो गयी।

किसी कर्म-सयोग के कारण उसका विवाह श्रावस्ती के एक उच्च जाति वाले धनी परिवार के सुयोग्य पुत्र से हो गया। धन-धान्य से भरा-पूरा सपन्न परिवार और सुन्दर स्वस्थ प्रेमिल पति। लगा दुखियारी के दुखो का अन्त हुआ। किसा गोतमी का भाग्य फिरा। परन्तु वस्तुतः ऐसा हो नही पाया। पति का अपार स्नेह पाकर भी उसने देखा कि परिवार के अन्य लोग उससे बेहद नाखुश है। दिन-रात सबकी सेवा मे रत रहने पर भी परिवार वालो के मन मे उसके प्रति अपार घृणा भरी है। एक तो गरीब की कन्या, तिस पर नीचे कुल की। जैसे कोढ मे खाज हो गयी। जाति, धन के भेदभाव से दूषित सड़ी-गली सामाजिक व्यवस्था का भूत परिवार के लोगो के सिर पर बुरी तरह सवार। इसलिए सबध तो हो गया, परन्तु परिवार वाले उसे स्वीकार नही सके। उनके ताने, बोली सुनते-सुनते बेचारी का हृदय छलनी-छलनी हो गया। इससे अच्छा तो किसी गरीब घर मे व्याही जाती, किसी नीचे माने जाने वाले कुल मे व्याही जाती। यह सारी धन-सपदा किस काम की? घृणा और तिरस्कार का जीवन जीना दूभर हो गया। एकमात्र पति का प्यार ही उसके जीवन का सहारा था।

विवाह के बाद कुछ वर्षों तक उसे कोई सतान नही हुई। इस स्थिति ने परिवार मे उसके लिए और तिरस्कार जगाया। कुल का एक-मात्र पुत्र नि्सतान रह जायगा तो वश कैसे चलेगा? कैसी पुण्यहीना बहू घर मे आयी? पुण्यशालिनी होती तो ऐसे खानदान मे ही क्यो

जन्मती ? और फिर इतने ऊचे कुल मे व्याही जाकर भी निपूती क्यों रहती ? यह सचमुच भाग्यहीना है। इस अभागिन की वजह से हमारे कुल का वश नही चलेगा। इस प्रकार के अगारे जैसे बोल उसके तन-मन मे विषाद की ज्वाला जलाते रहते। पर बेचारी असहाय ! क्या करती ? चुपचाप आसू ढलकाती और सबकुछ सहती रहती।

परन्तु कुछ दिन बीतने के बाद उसके दिन फिरे। उसे गर्भ रहा और दस मास पूरे होने पर उसने एक सुन्दर पुत्र-रत्न को जन्म दिया। सहसा जीवन मे रौनक आ गयी। परिवार मे पुत्रवती वधू का आदर होने लगा। सबकी मनोकामना पूरी हुई। उसने वश चलाने के लिए परिवार को सुन्दर पुत्र जो दिया। जैसे-जैसे पुत्र बढने लगा, उसकी किलकारियो ने घर के वायुमडल मे खुशियो का माहौल भर दिया। सभी उसे गोद मे उठाये फिरने के लिए लालायित रहते। अब घर वाले भूल गए कि बच्चे की मा नीचे कुल की और गरीब खानदान की है। वह गृहलक्ष्मी का-सा सम्मान सत्कार पाने लगी।

पालने मे झूलनेवाला बच्चा अब घुटनो के बल चलने लगा। उसकी अठखेलिया सबका मन मोहने लगी। अब वह खडा होने लगा। डगमगाकर दो-चार पग चलने भी लगा। उसकी बाल-सुलभ हरकतें सारे परिवार का मोद बढाती। घर के आगन मे आनद की फुलझडिया फूट पडती। किसा गोतमी अपने भाग्य को सराहती। बच्चे को गोद मे लेकर प्यार से चूम लेती। इसी लाडले की वजह से उसके दिन फिरे। उसके दुख दूर हुए।

परन्तु खुशियो के दिन बहुत शीघ्र पूरे हुए। एक दिन किसा गोतमी की खुशियो पर बिन बादल आकाश से बिजली पडी। घर के बाहर बगीचे मे खेलते हुए नन्हे-से बच्चे को विषधर काला नाग डस गया। देखते-देखते हसने-मुस्कराने वाला चेहरा नीला पड गया। शरीर निश्चल हो गया। सांस रुक गयी। हृदय की धड़कन बन्द हो गई। घरवालो ने बहुत भाग-दौड की। दवा-दारू की। जतर-मतर करवाए। पर कुछ काम न आया। बच्चे के प्राण-पखेरू उड गए। घर मे हाहाकार मच गया। किसा गोतमी के दुख का ठिकाना नही। हर मा अपने इकलौते

पुत्र पर आसक्त रहती है। पर किसा गोतमी के लिए तो सुख का एकमात्र आधार यह बालक ही था। इसी के कारण उसके दिन फिरे थे। अब क्या होगा। वह दुख के मारे पागल हो उठी।

जब लोगो ने कहा कि बच्चे के शव को श्मशान ले जाकर दफनायगे तो ये बोल उसके हृदय मे भाले की तरह चुभ गए। ये लोग मेरे बच्चे को घर से बाहर निकाल देगे। मैं ऐसा कदापि नही होने दूगी। उसने बच्चे की लाश को कसकर छाती से चिपका लिया। करुण क्रन्दन करने लगी, "नही मेरा लाल अभी मरा नही है। जहर के नशे मे केवल बेहोश हो गया है। गहरी नीद मे सो गया है। कोई इसे होश मे ला दे। कोई इसे जगा दे। यदि सचमुच प्राण निकल भी गए है, तो कोई ऐसी औषधि लाए जिससे प्राण वापस आ जायं। यदि तुमसे नही होता तो मैं कही से मागकर लाऊगी, अपने लाल को जगाऊगी।" वह बच्चे को छाती से चिपकाए विक्षिप्त अवस्था मे घर से निकल पड़ी। घर-घर लोगो से याचना करती। राह मे जो मिले, उसी से पल्ला पखारकर भीख मागती, "मुझे कोई दवा दे दो, जिससे मेरा लाल जाग जाय। इसकी बेहोशी दूर हो जाय। यह मरा नही है।"

लोग उसे समझाते, "माई, यह मर गया है। अब कोई औषधि काम नही आ सकती। टूटी की बूटी नही होती।" यह सुनकर वह और पागल हो उठती। बच्चे की लाश को जोरो से छाती से चिपकाती और किसी दूसरे के सामने दवा की भीख मागती।

उसकी ऐसी दशा पर एक भाई को बहुत दया आयी तो उसने कहा, "माई, कोई सामान्य वैद्य इसके लिए औषधि नही दे सकता। इस समय लोक मे महाभिषक, महावैद्य, बुद्ध उत्पन्न हुए हैं। शहर के बाहर उनका जेतवन विहार है। भगवान इन दिनो वही टिके है। उनके पास जा। वे तुझे उचित औषधि अवश्य देंगे।"

उत्साह से भरी किसा गोतमी दौडती हुई जेतवन विहार पहुची। भगवान उस समय साधको को साधना की बारीकिया समझा रहे थे। आकुल-व्याकुल किसा गोतमी बिना रुके भगवान के समीप पहुच गयी

और बच्चे की लाश भगवान के चरणो के पास रखकर फूट-फूटकर रोने लगी

"भन्ते भगवान ! लोग मुझसे मेरा लाल छीन लेना चाहते हैं। यह मरा नही है। भगवान ! यह सो गया है, बेहोश हो गया है। आप इसे जगा दें, आप इसे होश मे ला दें।"

"बेटी ! यह निष्प्राण है।"

किसा को धक्का लगा। वह फफक-फफककर रोने लगी और बोली, "यदि निष्प्राण है तो भी भगवान ! आप तो महाभिषक हैं। किसी ने कहा आपके पास सजीवनी औषधि है। मेरे बच्चे मे नया प्राण फूक दें। इसे औषधि अवश्य दें।"

भगवान ने देखा ऐसी भावावेशभरी विक्षिप्त अवस्था मे वह धर्म की कोई बात समझने लायक नही है। भगवान ने यह भी देखा कि पटाचारा की तरह यह भी अपने पूर्व जीवन मे भगवान काश्यप बुद्ध की सात बहनो मे से एक रही है और उनके पास खूब तपी है। प्रभूत पुण्य-पारमिताए अर्जित की हैं। इस समय अपने किसी दुष्कर्म का फल भोग रही है। परन्तु अब इसकी दुख विमुक्ति का समय आ गया है।

भगवान ने शात गंभीर वाणी मे करुणा की मदाकिनी बहाते हुए कहा, "हा, बेटी ! कहनेवाले ने ठीक ही कहा है। मैं भिषक ही हू, वैद्य ही हू। तुम्हे उचित औपधि अवश्य दूगा।"

गोतमी—"दीजिए भगवान! मैं आपका उपकार कभी नही भूलूगी।" किसा के चेहरे पर आशा की किरण चमकी।

भगवान—"नगर मे जाकर चुटकी भर सरसो के दाने माग ला।"

गोतमी—"अभी ले आती हू भगवान।"

—यू कहकर किसा शीघ्रता से उठी और जाने को उद्यत हुई।

भगवान ने कहा, "परन्तु देखना, ऐसे परिवार से लाना जिसमे आज तक कोई न मरा हो।"

'हा-हा भगवान ! ऐसे ही परिवार से लाऊगी।"

बच्चे को छाती से चिपकाए वह नगर की ओर बेतहाशा भागी।

अब मेरा बच्चा अवश्य जी उठेगा। जो पहला घर दिखा, वही जाकर अपनी दुखद कहानी सुनाई और चुटकी भर सरसो मागी। घरवालो ने सहानुभूतिपूर्वक कहा, "माई, तेरा लाल जी उठे। चुटकी भर क्या? चाहे तो मन भर सरसो ले जा।"

गोतमी, "परन्तु तुम्हारे यहा कोई मरा तो नही न !"

यह सुनकर घरवालो का मुह उतर गया। "मरा कैसे नही माई ! हमारे परिवार मे तो अनेक मरे हैं।"

यो एक-एक घर चुटकी भर सरसो की भीख मागती हुई किसा गोतमी नगर के मोहल्ले-मोहल्ले, गली-गली मे भटकती फिरी। उसे एक भी ऐसा परिवार नही मिला जिसमे कोई मरा न हो। दिन भर की थकी-मादी शाम होते-होते होश मे आ गई। बात समझ मे आ गयी। घर-घर मे लोग मरते हैं। बच्चे भी, जवान भी, बूढे भी, नर भी नारी भी। नगर मे जीवित लोगो की सख्या के मुकाबले मरने वालो की संख्या अधिक है। यह इतने सारे लोग अपने-अपने प्रियजनो के मरने पर मेरी तरह पागल नही हो उठे। मरना-जीना किसी के वश की बात नही। भगवान ने यह सत्य समझाने के लिए ही मुझे चुटकी भर सरसो के दाने लाने को कहा।

बात तो बहुत साधारण थी। केवल चुटकी भर दानो की माग। परन्तु यही उस दुखियारी के हृदय मे धर्म की चेतना जगाने के लिए प्रेरणा का पर्याप्त कारण बन गयी। उसका होश जागा। होश जागते ही बच्चे की लाश दफनाने के लिए छोडी और जेतवन आश्रम मे भगवान के पास आश्रय पाने के लिए चली आयी।

भगवान ने उसे आते देखा तो पूछा, "क्यो बेटी ! सरसो के दाने मिले ?"

गोतमी, "नही भगवान ! दाने तो नही मिले, पर खोया हुआ होश मिल गया। हर जनम लेने वाले का मरना निश्चित है। पहले-पीछे सभी मरते हैं। कोई रुक नही सकता।"

भगवान ने देखा अब इसकी मनोस्थिति धर्म समझने लायक है। उसे धर्मदेशना दी। सारे वातावरण को विमल प्रशात धर्म-तरगोंसे

आप्लावित करते हुए भगवान बोले, "मृत्यु सभी प्राणियो का अनिवार्य धर्म-स्वभाव है। केवल गाववालो का नही, केवल नगरवालो का नही केवल एक कुल के लोगो का ही नहीं, यह तो देवताओ समेत सभी लोगो का धर्म-स्वभाव है। सभी अनित्यधर्मा हैं, सभी मरणधर्मा हैं। इस सच्चाई को जो नही समझते, वे पुत्रो, पशुओ और धन-सपत्तियो मे आसक्त रहते हैं। मोह मूढता मे बेहोश रहते है और जन्म-जन्मातरो तक बार-बार मृत्यु के चगुल मे पडते रहते हैं। जैसे नदी मे एकाएक आयी हुई बाढ़ गहरी नीद मे सोये हुए गाव को बहाकर ले जाती है वैसे ही इन प्रमत्त आसक्त लोगो को बार-बार मृत्यु बहाकर ले जाती है।

"कोई इस मोह-निद्रा से जागे, अपने भीतर अनित्यबोध जगाए, उदय-व्यय का दर्शन करे तो ही जन्म-जन्मातरो के मृत्यु-दुख से सदा के लिए मुक्त हो सकता है।"

"सौ वर्षों तक विना उदय-व्यय का दर्शन किए जाने की अपेक्षा उदय-व्यय का दर्शन करते हुए केवल एक दिन का जीवन ही अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।"

महाकारुणिक की धर्म-वाणी का अमृतरस कानो मे पडते-पडते किसा गोतमी का अनेक जन्मो का सग्रहित पुण्य-फल जागा। शरीर के अणु-अणु मे धर्म-चेतना जागी। वह एकाग्रचित हुई, स्वमुखी हुई, अन्तर्मुखी हुई। "उदय-व्यय, उदय-व्यय" इस अनित्य धर्म का अपने भीतर सम्यक् दर्शन हुआ। उदय-व्यय, उदय-व्यय का दर्शन करते-करते उत्पाद-निरोध का दर्शन हुआ। विरज-विमल धर्म-चक्षु खुले और चद क्षणो के लिए वही उसी अवस्था मे निर्वाण का साक्षात्कार हुआ। किसा धन्य हुई, श्रोतापन्न अवस्था मे प्रतिष्ठित हुई। नितात दुख-विमुक्ति के मार्ग पर प्रतिष्ठित हुई।

श्रद्धा और कृतज्ञता-विभोर हो उसने भगवान से प्रव्रज्या की याचना की। भगवान ने अनुमति दी। किसा गोतमी ने आदरपूर्वक भगवान की तीन वार प्रदक्षिणा की, उन्हे नमस्कार किया और भिक्षुणी-विहार मे जाकर प्रव्रज्या ग्रहण की।

अब उसके दिन भगवान के सान्निध्य मे साधना करने मे बीतने लगे। भगवान की धर्म-वाणी मन के बचे हुए मैल उतारने मे सहायक सिद्ध हुई। वह बहुत दत्तचित्त हो विपश्यना साधना मे जुट गयी। एक दिन साधना करते हुए भगवान की अमृतवाणी उसके कानो मे गूजी :

"यो च वस्स तं जीवे अपस्स अमतं पद ।
एकाह जीवित सेय्यो पस्सतो अमत पद ॥"

अमृतपद निर्वाण का साक्षात्कार किए बिना कोई भले सौ वर्ष का जीवन जी ले, परन्तु उसके मुकाबले अमृतपद निर्वाण का साक्षात्कार करने वाले का एक दिन का जीवन भी अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।

इन प्रेरणा भरे शब्दो ने किसा गोतमी के मन मे धर्म-सवेग जगाया। मैंने क्षणभर निर्वाण का साक्षात्कार कर श्रोतापन्न अवस्था प्राप्त की, परन्तु नितात विमुक्ति के लिए अर्हंत की निरोधसमापत्ति वाली निर्वाणिक अवस्था का साक्षात्कार करना होगा। तभी आवागमन के भवचक्र से छुटकारा मिलेगा। इस प्रेरणा से प्रेरित होकर दृढ पराक्रम से विपश्यना करते हुए उसने क्रमश सगदागामी, अनागामी और अर्हंत-फल प्राप्त किया। साधना सफल हुई। भवबधन खुले। साधिका जीवनमुक्त हुई।

किसा गोतमी भगवान की प्रमुख शिष्याओ मे से एक हुई। भिक्षुणियो का जीवन अत्यत सादगी का जीवन। पर उन भिक्षुणियो मे भी सबसे अधिक सादगी का जीवन जीने वाली किसा गोतमी को भगवान ने मोटे, रूखे चीवर धारण करनेवालियो मे अग्र होने का पद प्रदान किया।

परम साध्वी किसा गोतमी ने अपना शेष जीवन लोकसेवा मे ही बिताया। कितनी दुखियारी नारिया उसकी प्रेरणा और मार्गदर्शन से दुख-विमुक्ति के मार्ग पर लगी। किसा गोतमी के करुणा भरे चित्त ने नारियो के दुख को खूब समझा। कितने प्रकार के दुख ? उपयुक्त वर व ससुराल न मिले तो दुख। सपत्नी हो तो दुख। सतान न हो तो दुख। हो तो गर्भ पालने का दुख। प्रसव का दुख। सतान के लालन-पालन का दुख। सतान दुराचारी हो जाय तो दुख। सतान होकर मर

जाय तो दुख। स्वय दुराचारिणी हो जाय तो दुख। अपने पूर्व जन्म की बहन पटाचारा का उदाहरण याद आया। दुराचरण के कारण पति, दोनो सतानो और मा-बाप व भाई के मरने का असीम दुख सहना पड़ा उसे। इस लोक-चक्र मे दुख-ही-दुख। जिस कल्याणकारी मार्ग को पाकर किसा स्वय दुखो से मुक्त हुई, वही औरो को बाटने लगी।

कभी अपने भूतकाल का सिहावलोकन करती तो भगवान के प्रति कृतज्ञता के भावो से विभोर हो उठती—"मैं कितनी भाग्यशालिनी हू कि मुझे भगवान तथागत जैसे कल्याण मित्र मिले। कल्याण मित्र की सगत मिलती है तो जीवन मगल से भर उठता है। दुर्जन-से-दुर्जन व्यक्ति इस सत्सगति से सज्जन हो जाता है। दुखियारा दुख-विमुक्त हो जाता है। वह दुख का भोगना छोड़कर दुख का दर्शन कर लेता है। दुख के मूल कारण का दर्शन कर लेता है। दुख-विमुक्ति के मार्ग पर स्वयं चलकर उसका दर्शन कर लेता है और इस प्रकार नितात दुख-निरोध अवस्था परमपद निर्वाण का दर्शन कर लेता है।

मुझ जैसी दुखियारी ने इसी एक जीवन मे नही, अनगिनत पूर्व जन्मो मे भी कितने दुख झेले हैं। न जाने मेरे कितने प्रियजन मरे है। इन मृत प्रियजनो की हड्डिया एक जगह एकत्र कर दें तो हिमालय जैसा पहाड खडा हो जाय। इनके मरने पर मैंने जितने आसू बहाए हैं, उन्हें एक जगह एकत्र कर दे तो सभी समुद्रो के जल से अधिक हो जाय।

महाकारुणिक की सत्सगति के कारण ही मेरे सारे दुख दूर हुए। मैंने शील, समाधि और प्रज्ञा के आर्य अष्टागिक मार्ग पर चलकर धर्म के दर्पण मे परम सत्य का साक्षात्कार किया। जन्म-जन्म के बोझ उतर-गए। हृदय मे चुभा हुआ मर्मभेदी पीड़ादायी तृष्णा का तीर निकल गया। मैं कृतकृत्य हुई, विमुक्त हुई, धन्य हुई।"

ऐसा कल्याणकारी मार्ग सबको मिले।
ऐसी मुक्तिदायिनी प्रेरणा सबमे जागे।

□□